फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानियां शिल्प और सार्थकता

हरिकृष्ण कौल

इस पुस्तक में अमर कथाकार स्वर्गीय फणीश्वरनाथ 'रेणु' के कथा-साहित्य का, आंचलिकता के अनावश्यक आग्रह या अनुबंध से मुक्त होकर, अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । पुस्तक में रेणु के विभिन्न संग्रहों, संकलनों, पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी कहानियों का (उन आरंभिक कहानियों का भी जो 'विश्वमित्र' कलकत्ता के अनेक अंकों में छपी थीं) विवरण दिया गया है और फिर उनके 'स्ट्रक्चर' तथा 'टेक्सचर' का विश्लेषण कर उनकी शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। साथ ही रेणु की भाषा पर भी विचार किया गया जिसने उनके कृतित्व को सबसे अधिक विवादास्पद बनाया है।

पुस्तक में कहानीकार की राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि की परीक्षा के साथ-साथ उनकी कहानियों की सार्थकता की भी समीक्षा की गयी है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानियां शिल्प और सार्थकता

हरिकृष्ण कौल

प्राक्कथन

जब मैंने पहली बार स्वर्गीय फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आंचल' पढ़ा तो मेरे सामने एक ऐसा संसार उजागर हुआ जो कुछ-कुछ अपरिचित होते हुए भी मुझे बहुत ही आत्मीय लगा। मुझे लगा कि मैं कोई उपन्यास नहीं पढ़ रहा हूं बल्कि एक के बाद एक मानवीय स्थिति को अपनी आंखों के सामने घटित होते देख रहा हूं। आंखों के सामने घटित होते देख रहा हूं—यह कहना ही शायद काफी नहीं होगा। मुझे लगा कि मैं जीवन की धड़कन को, उसके संगीत को, हास-परिहास को, उसकी चीख-पुकार को अपने कानों से सुन रहा हूं। दर्शन और श्रवण ही नहीं, मैं गंध, स्पर्श और स्वाद के स्तर पर भी लेखक के अनुभव का भागीदार बन रहा हूं। उसके बाद मुझे, पुस्तक रूप में अथवा पत्र-पत्रिकाओं में, रेणु की जो भी रचना उपलब्ध हुई उसे मैंने इस महान कलाकार का प्रसाद समझकर पढ़ा। मैं अत्यन्त विनम्रता से यह कहना चाहूंगा कि मैंने रेणु की प्रायः सभी उपलब्ध रचनाएं—उपन्यास, कहानियां, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, विभिन्न पत्रिकाओं में लिखे स्तम्भ, वक्तव्य, यत्र-तत्र प्रकाशित पत्र एक बार नहीं, अनेक बार पढ़े और हर बार उनमें कुछ न कुछ पाता रहा।

क्या पाता रहा, यह कहना ज़रा कठिन है। रेणु के कृतित्व के साथ मेरा सम्बन्ध केवल एक पाठक या आलोचक का नहीं था। यह एक सिद्ध कथा-शिल्पी से एक साधक कथाकार का रिश्ता भी था। रेणु की रचनाएं पढ़कर कभी-कभी मुझे एक अजीब-सी स्पर्धायुक्त अनुभूति होती कि काश ये रचनाएं मैंने लिखी होतीं। वास्तव में सृजन की सहधर्मिता, समस्याएं और उनके समाधान ही वे कुछ सूत्र थे जिन्होंने मुझे रेणु की रचनाओं से बांधा था। सृजक की प्रक्रिया की तरह ही ये सूत्र भी उलझे हुए थे और इनको सुलझाकर एक-दूसरे से अलगाना तथा प्रत्येक की अलग से परीक्षा करना मेरे लिए सरल कार्य नहीं था। अतः मुझे यह जोखिम उठाने का कभी साहस नहीं हुआ।

लेकिन जो बात आपके दिमाग पर हमेशा हावी रहती हो उसे आप कब तक टाल सकते हैं? मतलब यह कि जैसा भी बन पड़ा, मैंने रेणु की कहानियों के विषय में यह अध्ययन लिख ही डाला। इस अध्ययन में मैंने न केवल रेणु के कथा-

संसार को समझने का प्रयास किया है, अपितु अपनी रुचि का विश्लेषण और उन सूत्रों की परीक्षा का भी प्रयत्न किया है, जिन्होंने मुझे रेणु साहित्य के साथ बांधा है।

रेणु के साहित्य और विशेषतः उनकी कहानियों के विषय में अभी तक कोई गम्भीर विचार या उल्लेखनीय शोध-कार्य नहीं हुआ है। विश्वविद्यालयों में विभिन्न परीक्षाओं और उपाधियों के लिए कुछ शोध-प्रबंध अथवा लघु शोध-प्रबंध आवश्य लिखे या लिखवाए गये हैं जिनमें से कुछेक प्रकाशित भी हुए हैं। सुश्री कुसुम सोफट का 'फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला' (वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८), श्री पूर्णदेव का 'रेणु का आंचलिक कथा-साहित्य' (आशा प्रकाशन गृह, नयी दिल्ली, १९७३) तथा श्रीमती राज रैना का 'कहानीकार फणीश्वरनाथ रेणु' (सीमांत प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९७८) ऐसे ही प्रकाशित शोध-ग्रंथ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के ग्रंथों की अपनी सीमाएं होती हैं। एक निश्चित अवधि के भीतर अपने कार्य को पूर्ण करने की विवशता शोधार्थी को विषय की गहराई में जाकर उसकी बारीकियों के साथ उलझने का अवसर नहीं देती है। फिर भी यदि इन शोधार्थियों को पर्याप्त तथ्य उपलब्ध हुए होते, अथवा विषय के प्रति उनका 'एप्रोच' पंडिताऊ, शास्त्रीय या मशीनी न होकर एक सहृदय या सच्चे जिज्ञासु का होता तो सम्भव है कि उनकी खोज और स्थापनाएं इतनी त्रुटिपूर्ण और भ्रामक नहीं होतीं जितनी कि वे हैं।

'फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास-कला' में कुसुम सोफट ने रेणु की उपन्यास-कला का विवेचन न करके उनके पांच उपन्यासों में पेश की गयी समस्याओं का मशीनी ढंग से उल्लेख किया है और उपन्यासों में वर्णित तीज-त्योहारों, भोज्य-पदार्थों, परिवहन के साधनों, जाति-वंशों, वस्त्रों, आभूषणों आदि तथा इनमें प्रयुक्त लोकगीतों, फिल्मी गीतों, मुहावरों और लोकोक्तियों, ग्रामीण शब्दों, अंग्रेजी शब्दों, उर्दू शब्दों आदि की सूचियां मात्र ही दी हैं। ग्रंथ में शोधकर्ता की कोई प्राक्कल्पना या दृष्टि दृष्टिगोचर नहीं होती।

'रेणु का आंचलिक कथा-साहित्य' में पूर्णदेव ने आंचलिकता के आलोक में (या अंधकार में !) रेणु के पांच उपन्यासों और दो कथा-संग्रहों, 'ठुमरी' तथा 'आदिम रात्रि की महक' पर चर्चा की है। लेखक आंचलिकता से इस कद्र आक्रान्त है कि वह रेणु के कथ्य और शिल्प की प्रत्येक विशिष्टता को, उनकी हर भंगिमा को 'आंचलिकता' कहकर अपने कर्तव्य से मुक्त हो जाता है और फिर (अशिष्टता का भ्रम उत्पन्न करने वाली अपनी स्पष्टवादिता के लिए क्षमा चाहता हूं) उन्होंने अनेक स्थलों पर दूसरों के मन्तव्यों और शब्दों का बिना उद्धरण चिह्नों का प्रयोग किए, या उनके प्रति आभार प्रकट किए, या कम से कम इस बारे में कोई संकेत दिए, व्यवहार करके अद्भुत 'साहस' का परिचय दिया है। पुस्तक के पृष्ठ छः पर उन्होंने रेणु की कहानियों के विषय में जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः राजेन्द्र यादव के सम्पादन में 'नये कहानीकार' पुस्तकमाला के अन्तर्गत राजपाल एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'फणीश्वरनाथ रेणु की श्रेष्ठ कहानियां' संग्रह की प्रस्तावना 'प्रमुख स्वर' से नकल किया गया है।

राज रैना की पुस्तक 'कहानीकार फणीश्वरनाथ रेणु' यद्यपि १९७८ में प्रकाशित हुई है, इसमें केवल रेणु के प्रथम कहानी-संग्रह 'ठुमरी' तथा रेणु द्वारा सम्पादित 'हाथ का जस···' में संकलित कहानियों का कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, जीवनदृष्टि जैसे परम्परागत तत्त्वों के आधार पर विवेचन किया गया है और हर तत्त्व में रेणु की आंचलिकता खोजी गयी है। खेद की बात है कि पुस्तक के प्रकाशन में अपराध की हद तक लापरवाही बरती गयी है। प्रस्तावना में लिखा गया है कि ''रेणु पर संदर्भ-ग्रंथों का अभाव स्वाभाविक है; क्योंकि अभी वे लिख रहे हैं और उन पर होने वाला शोध अन्तिम नहीं हो सकता।'' और नीचे जनवरी, १९७८ की तिथि दी गई है—जब रेणुजी का निधन हुए लगभग नौ महीने हो चुके थे।

फणीश्वरनाथ रेणु के साथ चिपका 'आंचलिक' लेबल उनके सही मूल्यांकन में बाधा बन गया है। उनके विषय में जिस 'आंचलिकता' का जोर से ढोल पीटा जा रहा है, उसे मैं स्थानीय रंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। इस स्थानीय रंग का उपयोग न्यूनाधिक मात्रा में सभी यथार्थवादी कथाकार अपनी बात को एक प्रामाणिक संदर्भ देने के लिए करते आये हैं। अतः इस अध्ययन में 'आंचलिकता' के किसी आग्रह या अनुकूलता से मुक्त होकर रेणु की कहानियों को समझने का प्रयास किया गया है। प्रथम अध्याय में स्वतंत्रता के पश्चात हिन्दी कहानी और 'नयी कहानी' आन्दोलन का यत्किंचित परिचय देकर रेणु की कहानियों की साहित्यिक पृष्ठभूमि दी गयी है। द्वितीय अध्याय में रेणु की विभिन्न संग्रहों में संकलित तथा पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी कहानियों का विवरण दिया गया है—उन आरम्भिक कहानियों का भी जो 'विश्वमित्र', कलकत्ता के अनेक अंकों में छपी थीं। कहानियों का वर्गीकरण करके रेणु के परिवेश और पात्रों की भी चर्चा की गई है, और रेणु के साथ लगे 'आंचलिक' विशेषण के औचित्य पर बहस की गयी है। तृतीय अध्याय में रेणु की कहानियों के 'स्ट्रक्चर' और टेक्स्चर का विश्लेषण करके उनकी शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। साथ ही यह दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार रेणु ने अपनी कहानियों में अन्य साहित्यिक विधाओं और साहित्येतर कलाओं की तकनीक का समावेश करके उन्हें विशिष्ट कलात्मकता प्रदान की है। इसी अध्याय में रेणु की भाषा पर भी विचार किया गया है जिसने उनके कृतित्व को सबसे अधिक विवादास्पद बनाया है। चतुर्थ और अन्तिम अध्याय में रेणु की

कहानियों की सार्थकता की परीक्षा की गयी है; और उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के अनेक अन्तर्विरोधों की ओर संकेत करके उनकी राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि की समीक्षा की गयी है।

फिर भी रेणु की कहानियों में कथ्य और शिल्प के स्तर पर जो विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी का विवेचन इस लघु अध्ययन में नहीं हो पाया है। इसे मैं अपनी सीमा तो मानता ही हूं, किन्तु इसका एक कारण समय और साधनों की कमी भी हो सकता है।

हरिकृष्ण कौल

अनुक्रम

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी और रेणु ९

स्वतन्त्र्योत्तर कहानी—नयी कहानी—नयी कहानी और यथार्थवाद—नयी कहानी और रेणु।

रेणु का कथा-जगत् २४

कहानियों का विवरण—कहानियों का वर्गीकरण—ग्राम संस्कृति के प्रति मोह—आम आदमी का सुख-दुःख—राजनीतिक कहानियां—फुटकल कहानियां—रेणु का परिवेश—पात्र—रेणु और 'आंचलिकता'।

रेणु का कथा-शिल्प ४४

कहानियों की संरचना—मुख्य नाद : सहायक नाद—ठुमरी-धर्मा कहानियां—कहानियों का टेक्स्चर : बिम्ब नाद गंध—मिथक और मोटीफ—दृष्टिबिन्दु—भाषा।

रणु की कहानियों की सार्थकता ७५

रेणु का यथार्थ-बोध—प्रेमचन्द की परम्परा और रेणु—रेणु और राजनीति : अन्तर्विरोध।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी और रेणु

स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु ने सन् १९४५ के आस-पास लिखना शुरू किया था। फिर भी उनका रचना-काल मुख्य रूप से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद दो-तीन दशक हैं। अप्रैल, १९७७ में उनकी मृत्यु तक उनके पांच-छः उपन्यास और तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत कुछ लिखा है। उनके दो रिपोर्ताज भी मरणोपरान्त पुस्तक-रूप में छप गये हैं।

रेणु को सबसे अधिक ख्याति उनकी पहली औपन्यासिक कृति 'मैला आंचल', और उससे कुछ कम मात्रा में दूसरे उपन्यास 'परती : परिकथा' से मिली। प्रायः ऐसा होता है कि जो लेखक उपन्यासकार के रूप में साहित्य में पदार्पण करे और पदार्पण करते ही सफलता और ख्याति पाये, उसकी कहानियों को उचित महत्त्व नहीं मिलता और उनकी बहुत कम चर्चा होती है। किन्तु रेणु के साथ ऐसा नहीं हुआ। उनकी कुछ कहानियां, जैसे 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'रेखाएं : वृत्तचक्र' उनके उपन्यासों से कम चर्चित नहीं हुईं। (फिल्माए जाने के कारण 'तीसरी कसम' कदाचित् रेणु की सर्वाधिक चर्चित रचना है।)

रेणु की कहानियों को जो मान्यता और लोकप्रियता मिली उसके मूल में उनकी 'अपील' और कलात्मकता तो थी ही, लेकिन उसका एक कारण तत्कालीन साहित्यिक वातावरण भी था। कहानी विधा का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे बहुत कम गम्भीर अध्ययन के योग्य समझा जाता रहा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही हिन्दी में इस उपेक्षित विधा को एक अनुकूल वातावरण मिला। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियां कुछ ऐसी थीं कि छोटी कहानी (शार्ट स्टोरी) ही साहित्य की केन्द्रीय विधा बन गयी। नयी कहानी नाम से एक कथा-आन्दोलन चला; और जो कहानी केवल मनोरंजन के लिए पढ़ी जाती थी, उसे पहली बार आलोचकों ने गम्भीर साहित्यिक अनुशीलन के योग्य समझा। अतः फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य को स्वतन्त्रता पश्चात् की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा तत्कालीन कथा-आंदोलनों की पृष्ठभूमि में ही अच्छी तरह समझा जा सकता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी

अगस्त १९४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति भारतीय इतिहास के आधुनिक काल की जल विभाजक (वाटर शेड) घटना है। केवल इसलिए नहीं कि यह उपनिवेशवाद के अन्त और करोड़ों भारतीयों के लिए दासता से मुक्ति का एक सुखद अनुभव था। बल्कि इसलिए भी कि इस सुखद अनुभव के साथ ही, एक प्रकार से उसकी परिणति के रूप में दो दुखद अनुभव भी जुड़े हैं। पहला अनुभव विभाजन की विभीषिका का था जिसके फलस्वरूप लाखों लोग अनेक पीढ़ियों से संजोयी अपनी घर-गृहस्थी के साथ-साथ अपने चिर-संचित मूल्यों और मान्यताओं को भी छोड़ने पर विवश हो गये। लोग अपने घरों से ही नहीं बल्कि अपनी वैचारिकता और मानसिकता की जमीन से भी उखड़ गये। दूसरा दुखद अनुभव मोह-भंग का था। स्वतंत्रता के बाद भी शोषण, चोर बाजारी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद का जो चक्कर चलता रहा, उसके फलस्वरूप निम्न और निम्न-मध्यम वर्ग को भारी आघात लगा। जिस आजादी को लाख दुःखों की एक दवा समझा गया था, वह एक बहुत बड़ा फ्राड और धोखा साबित हुई। बुद्धिजीवियों के एक बहुत बड़े वर्ग को एहसास हो गया कि यह स्वन्तत्रता-आन्दोलन एक जन-आन्दोलन की अपेक्षा राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की अपने हितों के लिए छेड़ी गई लड़ाई अधिक था। व्यापक परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो भारत की स्वाधीनता भी अपने में कोई अलग-थलग घटना नहीं थी। सन् १९४५ में दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हो गया था। हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराकर भीषण नर-संहार किया गया था। ऊपरी तौर पर विजय प्राप्त करने के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य भीतर से विश्रृंखलित हो गया था और उसके पास अपने उपनिवेशों को मुक्त करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा था। सोवियत रूस का उदय एक महान शक्ति के रूप में होने के साथ ही पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवाद की स्थापना हुई। भारत की स्वाधीनता के बाद ही सन् १९४९ में चीन में जनवादी समाजवादी शासन की स्थापना हुई। कुल मिलाकर वर्तमान शताब्दी के पांचवें दशक के अन्तिम कुछ वर्ष काफी उथल-पुथल के वर्ष थे। बहुत कुछ तबदील हो रहा था, पुराना बहुत कुछ नष्ट हो रहा था, नया बहुत कुछ उभर रहा था। बदली हुई परिस्थितियां अपने अनुकूल साहित्यिक विधाओं या रूपों की मांग करती हैं और साहित्य की कोई एक विधा युग की केन्द्रीय विधा के रूप में उभरती है। पांचवें दशक के अन्तिम वर्षों में कहानी ही केन्द्रीय विधा के रूप में जड़ जमाने लगी, क्योंकि इसमें कविता की अपेक्षा समय के यथार्थ को पकड़ने की अधिक क्षमता थी। उपन्यास द्वारा भी ऐसा हो सकता था। परन्तु लेखक लम्बे उपन्यासों की अपेक्षा छोटी कहानियों के द्वारा ही युग की अस्थिर और पल-पल परिवर्तित परि-

स्थितियों के प्रति अपनी तुरन्त प्रतिक्रिया अधिक कुशलता से व्यक्त कर सकते थे। परिणाम यह हुआ कि इस युग में हिन्दी में ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी कहानी-आन्दोलन चले। कुछेक कथाकारों के स्थान पर कथा-पीढ़ियों का आविर्भाव हुआ। इन कथा-आन्दोलनों और कथा-पीढ़ियों के पीछे वह रचना-दृष्टि काम कर रही थी जिसे यथार्थबोध, समय-सापेक्षता, सही सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि, प्रगतिशीलता'''कोई भी नाम दिया जा सकता है।

हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन का सूत्रपात सन् १९३६ में ही प्रेमचन्द की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन से हुआ था। किन्तु पांचवें दशक के अन्तिम वर्षों में इसने एक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण किया जिसमें हिन्दी के डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवर सिंह, शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय, नागार्जुन आदि लेखक, उर्दू के कृश्न चन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, मखदूम महीउद्दीन, सरदार जाफरी, राजेन्द्र सिंह बेदी; पंजाबी की अमृता प्रीतम; बंगला के माणिक बंद्योपाध्याय, तेलुगु के महाकवि श्री श्री, मलयालम के वल्लात्तोल नारायण मेनन, कश्मीरी के दीनानाथ 'नादिम' आदि विभिन्न भाषा-भाषी साहित्यकार सम्मिलित थे। इसी प्रगतिशील रचनादृष्टि को लेकर उर्दू में एक कथा-आन्दोलन भारत-पाक सीमा के आर-पार चला, जिसने सआदत हसन मंटो के 'टोबा टेकसिंह' की तरह ही इस अप्राकृतिक राजनीतिक विभाजन को एक सूक्ष्म स्तर पर रद्द कर दिया। इस आन्दोलन में भारत के कृश्न चन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्र सिंह बेदी, इस्मत चुगताई, बलवंत सिंह तथा पाकिस्तान के मंटो, अहमद नदीम कासिमी, इब्राहीम जलीस आदि सभी शामिल थे। इसी कथा-आन्दोलन के झंडे तले, जैसा कि मोहन राकेश ने लिखा है, मुमताज मुफ्ती, रामानन्द सागर, कुर्रअतुएन हैदर और महेन्द्र नाथ जैसे कहानीकार भी आ गये थे जिनकी प्रगतिशीलता संदिग्ध हो सकती है।[1] भारत में इस आन्दोलन के नेता कृश्न चन्दर में भी उनकी उद्घोषित प्रगतिशीलता के बावजूद सस्ती भावुकता से ओत-प्रोत रोमानियत मिलती है जिसकी ओर डॉ० नामवर सिंह ने भी संकेत किया है।[2] परन्तु फिर भी हिन्दी में सन् १९५० के आसपास उदित मोहन राकेश, भीष्म साहनी, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, शेखर जोशी आदि कहानीकारों ने उर्दू के इन कहानीकारों से किसी और रूप में न सही, इस रूप में अवश्य प्रेरणा प्राप्त की कि कहानी-लेखन को एक आन्दोलन के रूप में चलाया जा सकता है।

---

१. बकलम खुद (राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली-१९७४), पृ० १५

२. डॉ० नामवर सिंह—'कहानी : नयी कहानी' (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद—द्वितीय संस्करण, १९७३), पृ० २१

नयी कहानी

आधुनिक काल में अधिकांश साहित्यिक आन्दोलन पत्रिकाओं के सहारे ही चले हैं। कथा-आंदोलनों के बारे में यह बात और भी सही है क्योंकि छोटी कहानियां मुख्य रूप से पत्र-पत्रिकाओं की मांग को पूरा करने के लिए ही लिखी जाती हैं। हिन्दी कहानी का उद्‌भव भी 'सरस्वती' और 'इन्दु' पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार सन् १९५० के आस-पास हिन्दी में जो कथा-आन्दोलन चला, उसको चलाने में 'कहानी', 'नई कहानियां', 'सारिका' जैसी कहानी पत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ है। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी पत्रिकाओं का प्रकाशन जिनमें केवल कहानियां ही हों, आन्दोलन का ही एक पक्ष था। हिन्दी में इस कथा-आन्दोलन के शुरू होने के बाद 'कल्पना', 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग' ('एक कथा दशक' सिलसिले का आयोजन करके) आदि पत्र-पत्रिकाओं तथा 'हंस', 'संकेत' आदि संकलनों ने इसके विकास और प्रसार में योग दिया।

हिन्दी कहानी में यद्यपि सन् १९५० से ही नयी प्रतिभाओं का उदय होने लगा था, फिर भी इस नये कथा-लेखन को, जिसने बाद में नयी कहानी की संज्ञा पायी, इलाहाबाद से श्रीपत राय के सम्पादन में 'कहानी' मासिक के पुनर्प्रकाशन से एक आन्दोलन का रूप मिला। जनवरी १९५५ में इस पत्रिका के नववर्ष विशेषांक का प्रकाशन हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी कहानी, दोनों के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व घटना थी। चार सौ पृष्ठों का यह विशेषांक वास्तव में एक कथा-कोश था जिसमें हिन्दी के जाने-माने कहानीकारों की कहानियों, विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की कहानियों के अनुवादों के साथ-साथ हिन्दी के नये उभरते कहानीकारों की रचनाएं भी संकलित थीं। जैसे रामकुमार की 'छुट्टियां', मार्कण्डेय की 'बातचीत', कमलेश्वर की 'कस्बे का आदमी', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे' तथा ओंकारनाथ श्रीवास्तव की 'सर्वहारा'। पत्रिका के प्रकाशन के एक वर्ष का लेखा-जोखा लेते हुए सम्पादकीय में कहा गया था—"कई नये कहानी-लेखकों को 'कहानी' ने प्रकाश में लाया। साल भर में 'कहानी' के अपने हिन्दी लेखकों की एक पूरी पांति ही तैयार हुई।"[१] सन् १९५५ के बाद इन नये लेखकों की कहानियों के साथ-साथ इनके कहानी सम्बन्धी वक्तव्यों तथा इनके विषय में लेखों, समीक्षाओं आदि का ऐसा सिलसिला चला जिसने शीघ्र ही एक आन्दोलन का रूप ले लिया। इस सिलसिले की सम्भवतः पहली कड़ी 'कल्पना' के जनवरी १९५५ अंक में (जो काफी बाद में छपा दीखता है) दुष्यन्त कुमार का लेख 'नयी कहानी : परम्परा और प्रयोग' है। इस लेख में दुष्यन्त कुमार ने हिन्दी

१. 'कहानी' नववर्षांक, जनवरी १९५५, पृ० २

कहानी की विकास-यात्रा का सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय के बाद हिन्दी कहानी की विभिन्न दिशाओं में प्रयोग बिलकुल नयी उगती प्रतिभाओं द्वारा हो रहे हैं। बीच की पीढ़ी को छोड़कर एकदम नये लेखकों का उल्लेख कुछ पुरातनपंथियों को अखरेगा ही मगर यह सच्चाई है कि इन्होंने अपनी कहानियों में अधिक नयापन और अधिक सशक्त एवं मौलिक वस्तु तत्त्व दिया है, और दे रहे हैं। इस नयी टीम में मार्कण्डेय, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, मनोहर श्याम जोशी, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, रामकुमार, वीरेन्द्र, कृष्ण माथुर, केशव प्रसाद मिश्र, कमल जोशी, श्रीराम वर्मा, अमरकान्त, ओमप्रकाश, जितेन्द्र, वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता, विद्यासागर नौटियाल और धर्मवीर भारती के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में अधिकांशतः ऐसी वस्तुपरकता है जिसका सामूहिक रूप से हर उत्थान में अभाव पाया गया है।"[१]

दुष्यन्त कुमार के लेख के शीर्षक में कहानी के साथ जुड़ा शब्द 'नयी' एक विशेषण मात्र है जिसका तात्पर्य उस समय के नवोदित कथाकारों की कहानियों से था। इसमें इस आन्दोलन के नामकरण का कोई आग्रह नहीं था। यदि ऐसा होता तो कहानी के जनवरी १९५६ के नववर्षांक में डॉ० नामवर सिंह यह नहीं लिखते—"आज की कहानी पर विचार करते समय सबसे पहले मेरे मन में यह सवाल उठता है कि 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' नाम की भी कोई चीज है क्या? और हम पाते हैं कि नयी कहानी नाम से कोई आन्दोलन अभी तक नहीं चला है।"[२] लेख के आरम्भ में यह प्रश्न उठाकर डॉ० नामवर सिंह ने तत्कालीन कथा-प्रवृत्तियों की समीक्षा की है और लेख के अन्त में निष्कर्ष रूप में अपनी मान्यताएं व्यक्त की हैं—"कुल मिलाकर आज की कहानियों को देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि हिन्दी कविता की अपेक्षा कहानी में स्वस्थ सामाजिक शक्ति कहीं अधिक है और आज उपन्यास की तरह कहानी सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक शस्त्र का काम कर रही है।"[३] इस निष्कर्ष से यह असंदिग्ध रूप से उपलक्षित होता है कि 'नयी कविता' की अपेक्षा 'नयी कहानी' नामकरण अधिक सार्थक और तर्कसंगत है। अतः छठे दशक की कहानी का 'नयी कहानी' नाम परोक्ष रूप से पहली बार डॉ० नामवर सिंह ने ही सुझाया है।

'कहानी' पत्रिका का जनवरी १९५६ का विशेषांक जनवरी १९५५ के

१. 'कल्पना', जनवरी १९५५, पृ० १८
२. 'कहानी' नववर्षांक, जनवरी, १९५६, पृ० १८
३. वही, पृ० २०

विशेषांक से कई दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें नये कहानीकारों की चन्द ऐसीकहानियां छपीं जो बाद में नयी कहानी आन्दोलन की प्रतिनिधि रचनाओं के रूप में काफी चर्चित हुईं। ये थीं अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया', मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' तथा मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला'। विशेषांक में कहानी सम्बन्धी चार लेख भी छपे—श्रीपत राय का 'युद्धोत्तर हिन्दी कथा साहित्य', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'हिन्दी कथा साहित्य की समस्याएं', प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'समसामयिक कहानी : नयी पौध' तथा डॉ० नामवर सिंह का लेख 'आज की हिन्दी कहानी'। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने एक वरिष्ठ साहित्यकार की मुद्रा धारण करके नये लोगों के द्वारा लिखी जा रही कहानी से असंतोष व्यक्त करते हुए उन्हें उपदेश दिए थे। इसके विपरीत शेष तीन लेखों में हिन्दी की नयी कथा-प्रवृत्तियों को समझने और उनका ईमानदारी से मूल्यांकन करने की कोशिश की गई थी। तीनों लेखों में ग्रामीण जनजीवन में हिन्दी के नये कहानीकारों की रुचि को सराहते हुए इसे एक स्वच्छ और वांछनीय कथा-प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया गया था। श्रीपत राय का मत था—"आज की कहानी ने एक नया मोड़ भी लिया है जो सर्वथा नया न होते हुए भी नवीनता रखता है। यह स्वस्थ और आशाजनक प्रवृत्ति है तथा इसका समुचित स्वागत होना चाहिए। यह है हमारे देहातों में जाकर (जहां न कोई जाना, या जाकर बसना पसंद करता है) वहां के सच्चे, स्वाभाविक, निश्छल चित्र उपस्थित करता।"[1] श्रीपत राय ने मार्कण्डेय को इस प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ कथाकार माना है तथा अन्य लेखकों में ओंकारनाथ श्रीवास्तव, केशवप्रसाद मिश्र और शिवप्रसाद सिंह का नाम लिया है। 'कहानी' में तब तक फणीश्वरनाथ रेणु की कोई कहानी नहीं छपी थी। सम्भवतः इसीलिए 'कहानी'-सम्पादक ने इस संदर्भ में उनका नामोल्लेख नहीं किया। इसी नयी प्रवृत्ति की ओर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इन शब्दों में संकेत किया था—"नये कहानीकारों में जो विशेष गुण हमें सबसे महत्त्वपूर्ण लगता है, वह उनका गांव की दिशा में एक बार फिर हिन्दी कहानी को ले जाना है। प्रेमचन्द से अगली पीढ़ी ने नगर के मध्यवर्ग की करुण कथा का अंकन अपनी कला में किया और इस प्रकार हिन्दी कहानी को नया पथ सुझाया था। नयी पौध गांव के जीवन को निकट से जानती है और उसको विश्वास और आस्था से साहित्य में प्रतिष्ठित करती है। ऐसे कथाकारों में शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय का नाम उल्लेखनीय है।"[2]

श्रीपत राय और प्रकाशचन्द्र जहां ग्रामीण कहानियों की उस नवीन प्रवृत्ति

१. 'कहानी' नववर्षांक, जनवरी, १९५६, पृ० १०
२. वही, पृ० १७

की नवीनता से ही आकृष्ट हुए थे, वहां डॉ० नामवर सिंह ने इस प्रवृत्ति के ग्राह्य और वांछनीय होने के लिए पैनी सामाजिक दृष्टि की अनिवार्य शर्त लगा दी थी। अपने लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा था—"निःसंदेह इन (विभिन्न अंचलों या जनपदों के लोक-जीवन को लेकर लिखी गई) कहानियों में ताजगी है और प्रेमचन्द की गांव पर लिखी कहानियों से एक हद तक नवीनता भी। लेकिन युवक कहानीकारों के हाथ पड़कर ये जनपदीय कहानियां कभी-कभी गहरा रूमानी रंग ले लेती हैं और देखा-देखी लिखने वालों के अनसधे हाथों में फैशन का रूप धारण कर रही हैं। इन किशोर कहानीकारों के पास एक ही चीज की कमी है और वह है पैनी सामाजिक दृष्टि। लोक-जीवन का मुग्ध चित्रण अपने आप में कोई बहुत ऊंची चीज नहीं है और न साध्य ही। इस सामग्री के आधार पर जागरूक पाठकों का मन ज्यादा देर तक बहलाया नहीं जा सकता। लोक-जीवन के अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों की समझ जैसे-जैसे बढ़ती जाएगी, ये कहानीकार भी प्रौढ़ आंचलिक कहानियां दे सकेंगे। फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र, शिवप्रसाद सिंह की कहानियों से इस दिशा में आशा बंधती दिखाई दे रही है।"[1] डॉ० नामवर सिंह ने न केवल पहली बार सही सामाजिक दृष्टि से आंचलिक कहानियां लिखने वालों में रेणु का नाम लिया बल्कि इस प्रवृत्ति में उनके प्रमुख स्थान की ओर भी इंगित किया। यहां यह दिखाना अभीष्ट नहीं है कि आंचलिक कहानियां नयी कहानी की एकमात्र या सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यहां केवल इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना अपेक्षित है कि नयी कहानी आन्दोलन में ही पहली बार हिन्दी में कहानियों के विषय में इतनी व्यापक और गम्भीर चर्चा हुई। पहली बार 'मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली हल्की-फुल्की विधा' को गम्भीरता से लिया गया। इसका एक और उदाहरण यह है कि मार्कण्डेय के प्रथम कहानी-संग्रह 'पान फूल' पर 'कल्पना' के दिसम्बर १९५४ अंक में धर्मवीर भारती, प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्रीपत राय की तीन लम्बी समीक्षाएं एक साथ छपीं। नयी कहानी के संदर्भ में ही पहली बार कहानी-लेखन के विषय में गम्भीर विचार-विनिमय तथा कथालोचन की एक सुव्यवस्थित प्रविधि और प्रक्रिया निश्चित करने का प्रयास हुआ। इस दिशा में जहां डॉ० नामवर सिंह, डॉ० देवीशंकर अवस्थी, डॉ० धनंजय जैसे आलोचकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है, वहां राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर आदि नये कहानीकारों ने स्वयं अपने आलोचक बनकर कहानी के विषय में अपनी स्थापनाओं का प्रचार किया। छठे दशक के मध्य से ही नयी कहानी ने एक ठोस आधार-भूमि प्राप्त कर ली थी और यह अब कुछ पत्र-पत्रिकाओं का दामन पकड़कर चलने वाला आन्दोलन मात्र नहीं

१. 'कहानी' नववर्षांक, जनवरी, १९५६, पृ० १९-२०

रहा था। दशक के अन्त तक 'नयी कहानी' के बीसियों कथा-संग्रह और संकलन यथा 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'अभिमन्यु की आत्महत्या', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'किनारे से किनारे तक', 'टूटना', 'एक दुनिया समानान्तर' (राजेन्द्र यादव); 'नये बादल', 'फौलाद का आकाश' (मोहन राकेश); 'राजा निरबंसिया', 'खोयी हुई दिशाएं', 'मांस का दरिया' (कमलेश्वर); 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त); 'परिन्दे', 'पिछली गर्मियों में' (निर्मल वर्मा); 'ठुमरी' (फणीश्वरनाथ रेणु); 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' (उषा प्रियंवदा); 'पान-फूल', 'महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला' (मार्कण्डेय); 'भटकती राख' (भीष्म साहनी); 'कर्मनाशा की हार' (शिवप्रसाद सिंह) इत्यादि छपकर साहित्य में मान्यता प्राप्त कर चुके थे।

नयी कहानी और यथार्थवाद

वस्तुतः नयी कहानी कोई विशेष प्रवृत्ति न होकर एक आन्दोलन है जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। नयी कहानी के साथ ग्रामीण अंचलों की कहानियां लिखने वाले रेणु, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह भी जुड़े हैं और लोकाल के रूप में लन्दन, पैरिस, न्यूयार्क आदि को अपनाने वाले निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा और विजय चौहान जैसे लेखक भी। भारतीय कस्बों, नगरों और महानगरों की कहानियां लिखने वाले कमलेश्वर, अमरकान्त, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव तो इसके साथ हैं ही। जितनी विविधता नयी कहानी में कथ्य की दृष्टि से मिलती है, प्रायः उतनी ही शिल्प के रूप में भी दृष्टिगोचर होती है। जहां छोटे-छोटे अनुभव-खंडों से बुना निर्मल वर्मा की कहानियों का टेक्सचर मिलता है, वहीं अनगढ़ता का आभास तथा 'मर्दाना लय' का एहसास देने वाली जनाना कहानीकार कृष्णा सोबती की शिल्प-चेतना और भाषा भी मिलती है। और तो और, नयी कहानी के पुरस्कर्ता कथाकारों और अधिवक्ता आलोचकों में अनेक मुद्दों पर गहरे मतभेद लक्षित होते हैं। डॉ० नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा के कहानी-संग्रह 'परिन्दे' को 'नयी कहानी की पहली कृति' घोषित कर पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल दायरे को छोड़ने, एक छोटे से अनुभव से मानव नियति की व्यापक कहानी बुनने, जीवन के साथ सीधे साक्षात्कार, वास्तविकता के प्रति नये दृष्टिकोण, चरित्र, वातावरण और कथानक के कलात्मक रचाव, भावावेग-रहित तटस्थ चित्रण, सांकेतिकता, संगीतात्मकता आदि के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[१] वहीं मोहन राकेश ने 'परिन्दे' संग्रह की कहानियों की एक ही मूड की आवृत्ति, एकरसता, भावुकता (जो वस्तु-चयन से लेकर चरित्र-चित्रण, वातावरण-चित्रण और भाषा के मुहावरे तक सभी में दिखाई देती है), व्यक्तियों के स्थान

१. 'कहानी : नयी कहानी', पृ० ६७-८३।

पर भावनाएं उभारने तथा यथार्थ के स्थान पर केवल कुछ संवेद ही प्रकट करने, चामत्कारिक कवित्व के बावजूद प्रभावहीनता के लिए निर्मल वर्मा की कड़ी आलोचना की है।[१] प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार के कथ्यभेद, शिल्पभेद और मतभेद के होते हुए भी वह कौन-सा तत्त्व है जो नयी कहानी से जुड़े सभी लेखकों को एक सूत्र में बांधता है? वह तत्त्व यथार्थ दृष्टि है जो कुछेक अपवादों को छोड़कर सभी नये कहानीकारों की रचनाओं के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में काम करती है। नयी कहानी मूलतः परिवेश से जुड़े हुए व्यक्ति की कहानी है जो नयी बदली हुई परिस्थितियों के आलोक में अपने परिवेश और अपने आपको समझना चाहता है। नये कहानीकारों में अपने समकालीन नये कवियों की अपेक्षा सामाजिक चेतना अधिक है। एक तरह से नयी कहानी का उदय नयी कविता की समाज-निरपेक्ष वैयक्तिकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ जिसके विषय में आगे चलकर चर्चा की जाएगी। नयी कहानी ने हिन्दी कहानी को एक बार फिर कथा साहित्य की महान यथार्थवादी परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। इस संदर्भ में नयी कहानी के विषय में इस आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं के मतों का परीक्षण अप्रासंगिक नहीं होगा।

डॉ० नामवर सिंह ने 'कहानी' मासिक के जुलाई १९५६ के अंक में नयी कहानी की सोद्देश्यता को रेखांकित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—"वस्तुतः आज का कहानीकार समाज में स्वयं इतना पीड़ित है कि वह अपने समानधर्मी लोगों के बीच अपनी पीड़ा बांटने के लिए कुछ अपनी और कुछ उनकी कहने के लिए विवश है।"[२] डॉ० रामदरश मिश्र ने यथार्थवाद के साथ नयी कहानी का सम्बन्ध इन शब्दों में स्थापित किया है—"नयी कहानी की चेतना स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जीवन के यथार्थ की चेतना है और यह चेतना कलाकारों के अनुभव से जुड़ी होने के कारण अनेक रूप और रंग धारण करती है। अर्थात् नयी कहानी की चेतना परिवेश से जुड़े हुए व्यक्ति के मन की चेतना है।"[३] नयी कहानी के प्रमुख हस्ताक्षर मोहन राकेश कहानीकार के लिए लूकाच की तरह ही यथार्थवाद अर्थात् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से व्यक्ति का उसके परिवेश के भीतर चित्रण अनिवार्य मानते हुए लिखते हैं—"यथार्थ—इतिहास का और समय का—वह सच है जिसे कि भोगा जाता है और वे सब जो कि उसे भोगते हैं। जीवन के अलग-अलग संदर्भ और उनमें जीने वाला व्यक्ति दोनों एक ही चेहरे के अलग-अलग हिस्से हैं।

१. 'बकलम खुद', पृ० ४१-४२।
२. 'कहानी : नयी कहानी', पृ० ६५।
३. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान', पृ० ५७।

इसलिए व्यक्ति को उसके संदर्भों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।"[1] राजेन्द्र यादव ने यद्यपि नयी कहानी का स्वरूप स्पष्ट करने की कोशिश में 'वैयक्तिक सामाजिकता' तथा 'सामाजिक वैयक्तिकता' आदि पहेलियां बुझाई हैं और योगियों की मुद्रा धारण करके यह कहा है कि "नयी कहानी का विरोध न मार्क्सवाद से है, न अस्तित्ववाद से; आधुनिक संक्रमण को न उसे पूंजीवादी संकट कहने में हिचक है न 'ऐलियनेशन' का टोटल हारर कहने से गुरेज है।"[2] फिर भी उनकी मान्यता है, कि "नयी कहानी का व्यक्ति, जैनेन्द्र-अज्ञेय से अधिक सामाजिक, सक्रिय, तटस्थ और प्रवृत्तिवादी कहानियों से अधिक अपने व्यक्तित्व वाला मनुष्य है। (प्रवृत्तिवादी कथाकृतियों की आलोचना एंगेल्स ने भी की है—लेखक)..... जितना वह अपने प्रति ईमानदार है उतना ही परिवेश के प्रति सजग, बदलते संदर्भों के प्रति सचेत और अपने अनुभवों को बड़े अनुभवों से जोड़ने को सक्रिय।"[3] कमलेश्वर ने नयी कहानी आन्दोलन का मूल्यांकन देश-विभाजन के परिप्रेक्ष्य में करते हुए उसका मुख्य स्वर धर्मान्धतावाद, भाग्यवाद, ईश्वरवाद आदि के रूप में व्यक्त होने वाले सामन्ती संस्कारों के प्रति अवज्ञा और विद्रोह माना है।[4]

'भोगा हुआ यथार्थ' और अनुभव की प्रामाणिकता के प्रति नये कहानीकारों का विशेष आग्रह है। वास्तव में ये दोनों बातें एक हैं। नयी कहानी के पुरस्कर्ताओं की मान्यता है कि यथार्थ दृष्टि वही है जिसे अपने प्रामाणिक अनुभव के आधार पर, भुक्तभोगी बनकर प्राप्त किया जाय। इस बात को कुछ लोगों ने 'वैयक्तिक सामाजिकता और सामाजिक वैयक्तिकता' अथवा 'आत्मपरक वस्तुपरकता और वस्तुपरक आत्मपरकता' आदि पहेलियों के रूप में रखा है। वास्तव में नये कहानीकार जहां यह मानते हैं कि व्यक्ति को उसके सामाजिक संदर्भ से अलग नहीं किया जा सकता है वहां इस बात पर भी बल देते हैं कि व्यक्ति की उपेक्षा करके किसी अमूर्त सामाजिकता की बात करना निरर्थक है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थापनाएं नयी कहानी का यथार्थवाद, सामाजिकता या प्रगतिशीलता से विरोध प्रकट नहीं करती हैं। यह केवल उस हठधर्मी वैचारिकता की अस्वीकृति थी जो रूस में स्टालिन जडानोव के युग में दृष्टिगोचर होती है और जिसे भारत के कुछ प्रगतिवादी कठमुल्लाओं ने अपना शस्त्र बनाया था। नयी कहानी को कथा-साहित्य की यथार्थवादी और प्रगतिशील परम्परा से विरोध के रूप में नहीं, उसके विकास के रूप में ही आंका जा सकता है। यही कारण है कि जहां नयी कविता में

१. 'बकलम खुद', पृ० १११।
२. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', पृ० ४६।
३. वही, पृ० ५६।
४. 'नयी कहानी की भूमिका', पृ० १६२।

प्रयोगशीलता, अमूर्तता, अर्थहीनता आदि की ओर विशेष झुकाव लक्षित होता है वहां नयी कहानी ने परम्परागत शिल्प, सम्प्रेषणीयता और सार्थकता को बिलकुल रद्द नहीं किया। यथार्थवाद यदि रचना-दृष्टि के स्तर पर तथ्यों को सही ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने की अनिवार्यता स्वीकार करता है तो शिल्प के स्तर पर कथानक, पात्र, वातावरण, टेक्स्चर के विश्वसनीय, बोधगम्य तथा कलात्मक रचाव की भी मांग करता है। इसीलिए यथार्थवादी कथाकारों ने अपनी सारी शक्ति कहानी का रूप बदलने में व्यय नहीं की है। डॉ० नामवर सिंह ने उचित ही कहा है कि कहानी का रूप कहानीपन को अक्षुण्ण रखकर ही बदला जा सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने नयी कहानी से कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' का उदाहरण दिया है जिसमें एक लोक-कथा की पृष्ठभूमि में एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गई है। "दो भिन्न युगों के दो निरबंसियों की जीवन-कथा दो रेखाओं की तरह एक-दूसरे को छूती और काटती हुई चलती चली जाती है। कहानी में लोक-कथा का यह प्रयोग शिल्प सम्बन्धी नवीनता कही जा सकती है। लेकिन यह कोरा शिल्प नहीं है, न उससे कहानी के कहानीपन में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत यह लोक-कथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है।...शिल्प के लिए लायी हुई अतीत की यह कथा वर्तमान वास्तविकता को उभारने के साथ ही अतीत का अर्थ भी हमारे लिए बदल देती है और अन्त में दो कथाओं की विषमता दो युगों की विषमता की गहरी खाई पर ही रोशनी नहीं डालती, बल्कि वर्तमान वास्तविकता पर मीठा व्यंग्य भी करती है कि इतना विकास करने के बाद भी आज का निम्न-मध्यवर्गीय युवक है कि अपनी पत्नी को स्वीकार नहीं कर सकता, जबकि शताब्दियों पहले एक राजा ने सारी लोक-मर्यादा तोड़कर अपनी रानी को अपना लिया।"[1]

कमलेश्वर की इस कहानी में तब भी शिल्प सम्बन्धी नवीनता है। मगर नयी कहानी के अन्तर्गत ऐसी कहानियों की संख्या कम नहीं है जिनके शिल्प में कोई 'नवीनता' न होते हुए भी उनमें विद्यमान गहरी यथार्थ दृष्टि उनकी प्रासंगिकता को रेखांकित करती है। अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी', 'दुर्घटना', 'जिन्दगी और जोंक' ऐसी ही कहानियां हैं। 'डिप्टी कलक्टरी' में नारायण और उसके पिता शकलदीप बाबू की पीड़ा दो व्यक्तियों और उनके परिवार का अतिक्रमण करके आज के युग में एक पूरे वर्ग की त्रासदी के रूप में मूर्त हो जाती है। ऐसी कहानियां वास्तव में जीवन के टुकड़े में निहित अन्तर्विरोध अथवा संकट को पकड़ने की कोशिशें हैं जो वृहत् अन्तर्विरोध के किसी न किसी पक्ष का आभास देती हैं। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' भी एक ऐसी ही कहानी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति

१. डॉ० नामवर सिंह—'कहानी : नयी कहानी', पृ० २६।

के बाद सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की जटिलतावश मानव सम्बन्धों में भी जटिलता आ गई और परम्परागत नैतिक मूल्यों के आगे प्रश्नचिह्न लग गए। यह जटिलता नारी और पुरुषों के सम्बन्धों में विशेष रूप से लक्षित होने लगी। अतः नयी कहानी में नारी-पुरुष के सम्बन्ध के पुराने पैटर्न को छोड़कर नये नैतिक बोध की यथार्थता की अभिव्यक्ति भी मिलती है। उदाहरणस्वरूप राजेन्द्र यादव की 'एक कमजोर लड़की की कहानी', मन्नू भंडारी की 'यह सच है', निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' आदि कहानियों का उल्लेख हो सकता है। दुर्भाग्य से कुछ नये कहानीकारों ने और सभी पक्षों की उपेक्षा करके स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की नयी नैतिकता को ही नयी वास्तविकता माना और इस बात की शिकायत की कि प्रेमचन्द ने कोई प्रेम कहानी क्यों नहीं लिखी है? इस सम्बन्ध में कुछ अन्य कहानीकारों ने पाश्चात्य परिवेश को इतना अधिक चित्रित किया कि ऐसा लगा जैसे कि पाश्चात्य परिवेश और दृष्टिकोण ही आज का यथार्थ है। ये दोनों प्रवृत्तियां नयी कहानी आन्दोलन के लिए घातक प्रमाणित हुईं।

नयी कहानी का नयापन कथ्य के चयन या लेखक की यथार्थवादी दृष्टि और भावबोध तक ही सीमित नहीं। यह कहानी के शिल्प और बिम्ब-विधान में भी दिखाई देता है। प्रामाणिक अनुभवों को अधिकाधिक ईमानदारी से व्यक्त करने के प्रयत्न में ही नये कहानीकारों ने चुस्त-दुरुस्त कहानियां न रचकर ऐसी कहानियां लिखी हैं जिनकी संरचना अनगढ़ता और विशृंखलता का आभास देती है। किसी फ़ारमूले को कथा का रूप देकर यथार्थ का 'निर्माण' नहीं, अपितु कथा-स्थिति के भीतर ही यथार्थ की खोज की गई। यही कारण है कि नयी कहानियों का प्रभाव तीर की तरह न चुभकर अगरु-गंध की तरह सारे व्यक्तित्व को आच्छादित करता है।[1] नयी कहानी का बिम्ब-विधान आरोपित न होकर कथ्य का ही अविच्छिन्न भाग है और शिल्प के स्तर पर कहानीकार के यथार्थ-बोध को रेखांकित करता है। इस संदर्भ में डॉ० नामवर सिंह ने कुछ कहानियों का बहुत ही कुशलता से विश्लेषण किया है।[2]

१. राजेन्द्र यादव, 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', पृ० ८।

२. "शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', शिवप्रसाद सिंह की 'दीनू के साथ एक सुबह', राजेन्द्र यादव की 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़', मोहन राकेश की 'आद्रा' तथा निर्मल वर्मा की 'तीसरा गवाह' कहानी में बिम्ब-विधान तथा वातावरण के सार्थक प्रयोग को देखा जा सकता है। कहीं कोसी नदी की सूखी धार घटवार के अकेलेपन का बिम्ब है, तो कहीं कठफोड़वा की किट-किट तथा पनचक्की की मथानी की छच्छिट-छच्छिट सूने हृदय की निरर्थक धड़कन का नादमय चित्र है। कहीं आम की खुसली ही जिन्दगी की

नयी कविता और नयी कहानी एक ही वैचारिकता और भावबोध के दो अलग-अलग विधाओं के संदर्भ में अलग-अलग रूप नहीं हैं। वास्तव में वैचारिकता और कला-चेतना की दृष्टि से ये दोनों परस्पर-विरोधी साहित्यांदोलन हैं। नयी कविता का आन्दोलन अपने पूर्ववर्ती प्रयोगवाद के रूप में सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रगतिशील विचारधारा के प्रति विद्रोह के रूप में आया। मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, शमशेरबहादुर सिंह की स्वस्थ सामाजिक दृष्टि के बावजूद नयी कविता के मूल में अधिकतर 'नदी के द्वीप' का व्यक्तिवादी दर्शन तथा कुण्ठा और अनास्था का स्वर ही मिलता है। नयी कहानी के आन्दोलन का आरंभ ऐतिहासिक दृष्टि से नयी कविता के मूल्यों के प्रति विद्रोह का स्वर लेकर हुआ। मोहन राकेश के शब्दों में "नयी कहानी का विकास नयी कविता की पार्श्ववर्ती शाखा के रूप में नहीं, उससे अलग और उससे आगे के साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ और उसका मूल स्वर कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का नहीं, मनुष्य के यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने/आंकने का है। इस तरह नयी कहानी की संचेतना नयी कविता की आगे की पीढ़ी के उस विद्रोह की अभिव्यक्ति है जिसकी बुनियादें समाजपरक विचारधारा में है।"[1]

नयी कहानी और रेणु

सन् १९५४ में 'मैला आंचल' उपन्यास के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी साहित्य-गगन में फणीश्वरनाथ रेणु का उदय एक धूमकेतु की तरह हुआ। रेणु ने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ सन् १९४० के आस-पास कविताओं से किया था और वे कविताएं पूर्णिया नगर से उस समय निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती थीं।[2] परन्तु सन् १९४२-४३ में अपने साहित्यिक गुरु बंगला के सतीनाथ

किसी कठिन गांठ का प्रतीक बन जाती है, तो कहीं नया मकान एक मध्यवित्त-व्यक्ति के उत्थान (?) की साकार प्रतिमा है, जिसके सामने प्रश्नवाचक चिह्न की तरह एक पेड़ खड़ा है। कहीं छः बच्चों वाली मादा सुअर की हुंफ-हुंफ की आवाज तथा उसके ऊपर चमकते हुए नक्षत्र का सांकेतिक चित्र है। तो कहीं कोर्ट का अंधेरा कमरा ही वर्तमान कानून का प्रतीक बन जाता है, स्पष्ट ही ये बिम्ब नये हैं और अपने प्रतीकार्थ के बावजूद आकर्षक हैं। इस दृष्टि से नयी कहानियां बहुत समृद्ध हैं।"
—डॉ० नामवम सिंह, 'कहानी : नयी कहानी', पृ० ४३-४४।

१. 'बकलम खुद', पृ० ८१।

२. नागार्जुन, 'फणीश्वर नाथ रेणु' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि', सम्पादक प्रो० रामबुझावन सिंह, डॉ० रामवचन राय, नवनीता प्रकाशन, पटना-३, मार्च, १९७८), पृ० १७।

भादुड़ी के सुझाने पर रेणु कविता छोड़कर कहानियां लिखने लगे। कहा जाता है कि 'बट बाबा' नाम से रेणु की पहली कहानी सन् १९४५ में मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता) में छपी। 'विश्वमित्र' में ही अगले वर्ष उनकी दो और कहानियां छपीं—'रसूल मिसतिरी' (फरवरी १९४६ अंक) तथा 'बीमारों की दुनिया में' (दिसम्बर १९४६ अंक)। उनकी इन कहानियों में तेजी से बदलते यथार्थ को तदनुकूल भाषा और शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्ति करने की आतुरता मिलती है। परन्तु इसके बावजूद वे काफी समय तक, 'मैला आंचल' के प्रकाशन के कुछ समय बाद तक भी, हिन्दी के नये कथा-आन्दोलन से कटे रहे। इधर सन् १९५० के आस-पास नयी कहानी के अन्तर्गत ग्राम कथाओं की प्रवृत्ति भी शुरू हुई और इस प्रवृत्ति के कथाकारों में मार्कण्डेय, कमल जोशी, शिवप्रसाद सिंह आदि को ही गिना जाने लगा। यही कारण है कि प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्रीपत राय आदि ने सन् १९५५-५६ में लिखे लेखों में ग्राम-कथा को नयी कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हुए भी रेणु का कहीं कोई जिक्र नहीं किया। 'कहानी' पत्रिका में पहली बार १९४७ के नव वर्ष विशेषांक में रेणु की कहानी 'लाल पान की बेगम' छपी और वे नये कहानीकारों की बिरादरी में शामिल हो गये। रेणु का पहला कहानी-संग्रह 'ठुमरी' सन् १९५९ में छपा। इस दृष्टि से भी रेणु की रचना-काल नयी कहानी आन्दोलन का तुल्यकालिक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्राम-कथा या आंचलिक कहानी नयी कहानी की एक प्रमुख प्रवृत्ति है और यह बात निर्विवाद है कि रेणु इस प्रवृत्ति के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं। रेणु ने कुछ अन्य आंचलिक कथाकारों की तरह अछूते अंचलों और जीवन-क्षेत्रों का चयन पाठकों को चमत्कृत करने के लिए नहीं किया है। और फिर रेणु का कथा-आंचल उस दृष्टि से अछूता भी नहीं है। रेणु की कथा-भूमि बिहार के पूर्णिया जिले के गांव ही नहीं, आधुनिक भारतीय इतिहास का वह काल-खंड है जहां सामन्तवाद के प्रतीक गांव में पूंजीवाद का प्रतीक नगर घुस रहा है। जहां 'विद्यापत नाच' को 'सिलेमा का नागिन वाल डानस' स्थानापन्न कर रहा है, धान और पाट के खेतों में लोकगीत की कोई कड़ी गुनगुनाने वाली लड़कियों की आवाज़ मिल के भोंपू के नीचे दब जाती है, गांव के 'लौजवान' सारी मोह-माया तोड़कर 'सहर' रिक्शा गाड़ी की 'डिलेवरी' करने के लिए 'फुर्र' हो जाते हैं; 'महुआ घटवारिन' को 'सौदागर' खरीद लेता है। रेणु ने अपनी कहानियों में जो स्थितियां और समस्याएं उभारी हैं वे किसी एक गांव, किसी एक जिले, किसी एक प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं। हां, जिले, ग्राम, जनपद, जाति, टोले आदि का नामोल्लेख स्थिति और समस्या को एक प्रामाणिक संदर्भ देता है। संदर्भ की प्रामाणिकता ही एक निश्चित कथा-स्थिति को एक सामान्य कथा-स्थिति की अपेक्षा अधिक प्रतिरूपात्मक और परिणामतः अधिक प्रभावपूर्ण बनाती है। जिस

'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भोगे हुए यथार्थ' को नये कहानीकारों ने नारों के रूप में अपनाया, उसका उज्ज्वलतम रूप रेणु में ही मिलता है। रेणु ने अपने पात्रों का उनके सम्पूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ में चित्रण किया है। इसलिए उनके कथा-मंच पर यदि कोई पात्र केवल एक क्षण के लिए भी प्रवेश करता है तो अपनी समस्त सामाजिक पृष्ठभूमि को लेकर करता है।

कुछ लोगों को नयी कहानी के पुरस्कर्ताओं में रेणु का नाम लेने पर आपत्ति हो सकती है। शायद इसलिए कि उन्होंने अपनी कहानियों की सफाई में न लम्बे-लम्बे लेख लिखे हैं और न ही कहानी के बारे में अपनी स्थापनाओं का जोर-शोर से प्रचार किया है। इसके बावजूद नयी कहानी के कदाचित सबसे अधिक वाचाल नेता कमलेश्वर ने रेणु की महानता को इन शब्दों में स्वीकारा है—"...बीसवीं सदी का यह संजय—रूप, गंध, स्वर, नाद, आकार और बिम्बों के माध्यम से 'महाभारत' की सब वास्तविकता, सत्य, घृणा, हिंसा, प्रमाद, मानवीयता, आक्रोश और दुर्घटनाएं बयान करता जा रहा है। उसके ऊंचे माथे पर महर्षि वेद व्यास का आशीष अंकित है।"[1]

रेणु की कहानियां हिन्दी की यथार्थवादी कथा-परम्परा की एक शक्तिशाली कड़ी हैं। कुछेक अन्तर्विरोधों के बावजूद रेणु का कथा-साहित्य जनवादी साहित्य का उत्कृष्टतम उदाहरण है। जब छठे दशक के कतिपय कहानीकार तथा सातवें दशक के अधिकांश कथाकार कुछ भ्रमवश, कुछ फैशनवश महानगर के संत्रास, व्यक्ति के अकेलेपन, जीवन की अर्थहीनता की कहानियां लिखकर वायुमण्डल को दूषित कर रहे थे, रेणु की कहानियां स्वच्छ वायु के झोंकों की तरह जनमत को राहत दे रही थीं। फणीश्वरनाथ रेणु की स्वस्थ सामाजिक दृष्टि ही, भारत में ही नहीं, रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में भी उनकी लोकप्रियता का कारण है।[2]

---

१. कमलेश्वर, 'मेरा हमदम : मेरा दोस्त : फणीश्वरनाथ रेणु', 'नयी कहानियां' (मार्च १९६४), पृ० ६६।

२. 'नया प्रतीक' मासिक के मार्च, १९७८ अंक में 'रेणु की याद में' नाम से डॉ० कुमार विमल का लेख छपा है जिसमें उन्होंने लिखा है—"रूस में रेणु का कथा-साहित्य प्रेमचन्द और यशपाल के कथा-साहित्य के बाद ऊंचा स्थान रखता है। लेनिनग्राद में तोलस्तोया नाम का एक महिला लेखिका, जो अब मुख्यतः अनुवाद का काम कर रही हैं, मुझसे मिलीं तो उन्होंने रेणु के लेखन के बारे में जिज्ञासा की। इसी तरह की बात प्राम में हुई जब वहां की विदुषी डॉ० अय्यार अन्सारी ने रेणु के साहित्य की दिलचस्प चर्चा मुझसे की।"

रेणु का कथा-जगत्

कहानियों का विवरण

सन् १९५४ में 'मैला आंचल' के प्रकाशन के साथ ही फणीश्वरनाथ रेणु एक उपन्यासकार के रूप में अवतरित हुए और इस पहली कृति से ही उन्हें जैसी ख्याति प्राप्त हुई वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व है। उनकी दूसरी प्रकाशित पुस्तक 'परती : परिकथा' भी एक औपन्यासिक कृति ही थी जिससे उनकी ख्याति में वृद्धि हुई। परन्तु रेणु ये दो उपन्यास लिखने से पूर्व बहुत-सी कहानियां लिख चुके थे, यद्यपि 'ठुमरी' नाम से उनका पहला कहानी-संग्रह सन् १९५९ में 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' के काफी बाद छपा। स्वयं रेणु के अनुसार उनकी पहली कहानी 'बट बाबा' थी जो सन् १९४५ में 'विश्वमित्र' मासिक (कलकत्ता) में छपी थी।[1] अगले वर्ष इसी पत्रिका में उनकी दो और कहानियां छपीं—'रसूल मिसतिरी'[2] तथा 'बीमारों की दुनिया में'[3]। 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद उनकी कहानियां इलाहाबाद आदि हिन्दी केन्द्रों से निकलने वाली पत्रिकाओं में भी छपने लगीं और वे उपन्यासकार के साथ-साथ कहानीकार के रूप में भी चर्चित होने लगे।

'ठुमरी' रेणु का पहला कहानी-संग्रह है जिसे सन् १९५९ में राजकमल प्रकाशन ने छापा। इसमें कुल नौ कहानियां हैं—'रसप्रिया', 'तीर्थोदक', 'ठेस', 'नित्य-लीला', 'पंच लाइट', 'सिर पंचमी का सगुन', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'लाल पान की बेगम' तथा 'तीन बिंदियां'। आठ वर्ष बाद सन् १९६७ में राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली से रेणु का दूसरा कहानी-संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' छपा। इस संग्रह में कुल चौदह कहानियां हैं—'विघटन के क्षण', 'तबे एकला चलो रे', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'जलवा', 'पुरानी कहानी : नया पाठ', 'अतिथि-सत्कार', 'काक चरित', 'आजाद परिन्दे', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'उच्चाटन', 'ना जाने केहि वेश में', 'प्रजा-सत्ता', 'आत्म-साक्षी' तथा 'नैना जोगिन'। 'अगिनखोर' रेणु का तीसरा कथा-संग्रह है जो सन् १९७४ में संभावना प्रकाशन, हापुड़ से छपा। 'अगिनखोर' में कुल ग्यारह कहानियां संगृहीत हैं—'अगिनखोर', 'रेखाएं : वृत्तचक्र', 'भित्तिचित्र की मयूरी', 'लफड़ा', 'शीर्षकहीन', 'एक अकहानी का सुपात्र', 'जैव', 'मन के रंग', 'दसगज्जा के इस पार और उस पार', 'अकल और भैंस' तथा 'अग्नि संचारक'।

इन तीन कथा-संग्रहों के अतिरिक्त रेणु की कहानियों के कुछ अन्य संग्रह भी मिलते हैं। इनमें सबसे पहला स्वयं फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा सम्पादित 'हाथ का जस' नामक कथा-संग्रह है जिसमें रेणु के अतिरिक्त दो अन्य कथाकारों—हिमांशु श्रीवास्तव और रणधीर सिनहा की कहानियां संकलित हैं। इसे सन् १९६२ में बिहार ग्रंथ-कुटीर, पटना ने प्रकाशित किया है। 'ठुमरी' के बाद छपे इसे संग्रह में, 'ठुमरी' में संगृहीत 'लाल पान की बेगम' के अतिरिक्त दो अन्य कहानियां—'कस्बे की लड़की' तथा 'हाथ का जस और वाक का सत्त' भी मिलती हैं। राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित 'नये कहानीकार' पुस्तक-माला के अन्तर्गत राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली से सन् १९६५ में 'फणीश्वरनाथ रेणु : श्रेष्ठ कहानियां' नाम से रेणु की कहानियों का संग्रह छपा। इसमें 'ठुमरी' में संकलित चार कहानियों के अतिरिक्त दो और कहानियां मिलती हैं—'टेबुल' तथा 'अच्छे आदमी'। राजपाल एण्ड सन्ज से ही सन् १९७४ में 'मेरी प्रिय कहानियां' नाम से रेणु की नौ कहानियों का एक और संग्रह छपा। इन नौ कहानियों में से आठ रेणु के इससे पूर्व प्रकाशित संग्रहों से ली गयी हैं—'ठुमरी' से तीन, 'आदिम रात्रि की महक' से तीन तथा 'अगिनखोर' से दो। इसके अतिरिक्त इसमें 'संवदिया' नामक कहानी भी है जो रेणु के किसी अन्य संकलन में नहीं मिलती है। इन कहानियों के अतिरिक्त फणीश्वरनाथ रेणु की कुछ ऐसी कहानियां भी हैं जो पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य-संकलनों में प्रकाशित होने के बावजूद उनके उपरोक्त संग्रहों में नहीं मिलतीं। 'सारिका' के जुलाई १९७१ के अंक में छपी 'तब शुभनामे···', 'नई कहानियां' में छपी 'विकट-संकट' तथा अन्यत्र छपी 'स्टिल लाइफ' ऐसी ही कहानियां हैं। पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर कहानियों के नाम पर रेणु के विभिन्न उपन्यासों के अंश भी छपे हैं। 'परती : परिकथा' का आरम्भिक अंश 'एकलव्य के नोट्स' नाम से बहुत पहले एक साहित्य संकलन में छपा था। इसी प्रकार 'नई कहानियां' के दिसम्बर, १९६३ के अंक में 'जुलूस' उपन्यास का आरम्भिक अंश 'रोमांस-शून्य प्रेम-कथा की एक भूमिका' शीर्षक से छपा था। इन उपन्यास अंशों को यदि छोड़ दें,

१. फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा दिया गया मदनमोहन उपेन्द्र के प्रश्न का उत्तर। (देखिए, मदनमोहन उपेन्द्र का लेख 'परती के परिकथाकार रेणु', प्रो० राम बुझावन सिंह तथा डॉ० रामवचन राय द्वारा सम्पादित 'रेणु : सस्मरण और श्रद्धांजलि', नवनीता प्रकाशन, पटना-३, १९७८ में संकलित, पृ० ८१)

२. 'विश्वमित्र' मासिक, कलकत्ता, फरवरी १९४६, पृ० ४४-४६

३. वही, दिसम्बर, १९४६, पृ० २५-२८

तो विभिन्न कथा-संग्रहों में संकलित तथा पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी रेणु की कहानियों की संख्या पचास के आस-पास होगी।

कहानियों का वर्गीकरण

फणीश्वरनाथ रेणु को 'आंचलिक' कथाकार माना जाता है और यह कहा जाता है कि उनका कथांचल उत्तरी बिहार का पूर्णिया जिला है तथा यहीं के लोक-जीवन को लेकर उन्होंने उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। यह भी कहा जाता है कि प्रेमचन्द के बाद रेणु ही दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं जिन्होंने ग्रामीण जन-जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया जिस कारण कथा-साहित्य ग्राम कथाओं के अन्तर्गत आता है। परन्तु यह बात एक सीमा तक ही सत्य है। रेणु ने जिस रचनात्मक दबाव से 'रसप्रिया', 'पंच लाइट', 'लाल पान की बेगम', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' आदि ग्रामीण परिवेश की कहानियां लिखी हैं, उस रचनात्मक दबाव से 'टेबुल', 'जलवा', 'आजाद परिन्दे', 'अगिन-खोर', 'लफड़ा', 'शीर्षकहीन' आदि कहानियां भी रची हैं जिनका कथ्य पटना जैसे नगरों या बम्बई जैसे महानगरों के जीवन से सम्बन्धित है। रेणु की कुछ कहानियों में देहाती और शहरी जीवन का अजीब-सा सम्मिश्रण भी मिलता है। कहीं उनके पात्र गांव में रहकर ही नगर के स्वप्न देखते हैं, या फिर नगर में आकर नगर-वासियों के परिहास के पात्र बनते हैं ('विघटन के क्षण', 'उच्चाटन', 'कस्बे की लड़की', 'एक अकहानी का सुपात्र') तो कहीं शहरी पात्रों की नगरोचित बुद्धि और नफासत का ग्रामीण वास्तविकता के साथ सामंजस्य न स्थापित होने पर हास्यास्पद स्थितियां पैदा होती हैं ('नैना जोगिन', 'अकल और भैंस')। मोटे तौर पर रेणु की कहानियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—ग्राम कथाएं तथा ग्रामेतर कथाएं। ग्राम कथाओं के अन्तर्गत 'रसप्रिया', 'तीर्थोदक', 'ठेस', 'नित्य लीला', 'पंच लाइट', 'सिर पंचमी का सगुन', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'लाल पान की बेगम', 'हाथ का जस और वाक का सत्त', 'विघटन के क्षण', 'तबे एकला चलो रे', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'उच्चाटन', 'आत्म साक्षी', 'नैना जोगिन', 'भित्तिचित्र की मयूरी', 'अकल और भैंस' तथा कुछ अन्य कहानियां आती हैं। ग्रामेतर कथाओं के उदाहरणस्वरूप 'तीन बिंदियां', 'कस्बे की लड़की', 'टेबुल', 'जलवा', 'काक चरित', 'आजाद परिन्दे', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'ना जाने केहि वेश में', 'प्रजा सत्ता', 'अगिनखोर', 'रेखाएं : वृत्तचक्र', 'लफड़ा', 'शीर्षकहीन', 'एक अकहानी का सुपात्र', 'जैव', 'मन के रंग', 'अग्नि-संचारक', 'स्टिल लाइफ़', 'बीमारों की दुनिया में' आदि का उल्लेख हो सकता है। रेणु की कुछ कहानियों में निःसंदेह ग्रामीण जीवन और संस्कृति के प्रति मोह मिलता है। पर उनकी अधिकांश कहानियों में आम आदमी के छोटे-छोटे सुख-दुःख एक निराली आत्मीयता और रागात्मकता से चित्रित किए गये हैं। ऐसी कहानियों का परिवेश देहात का भी है और शहर का भी। परिवेश की भिन्नता से इन कहानियों की प्रभावोत्पादकता में कोई अन्तर नहीं आया है। इनके अतिरिक्त रेणु की कुछ कहानियां ऐसी भी हैं जिन्हें राजनीतिक कहानियां कहा जा सकता है। अतः रेणु की कहानियों को निम्नलिखित चार वर्गों में बांटा जा सकता है—

१. ग्राम संस्कृति के प्रति मोह की कहानियां;
२. आम आदमी के सुख-दुःख की कहानियां;
३. राजनीतिक कहानियां;
४. फुटकल कहानियां।

ग्राम संस्कृति के प्रति मोह

रेणु की कहानियों में भारतीय इतिहास के उस कालखंड की कथा कही गयी है जब मरणशील सामन्तवाद उभरते पूंजीवाद के चपेटों के आगे अपने को असमर्थ पाता है। गांवों का टूटना इसी ऐतिहासिक परिवर्तन का लक्षण है। रेणु की अनेक कहानियों में गांवों के टूटने की यह प्रक्रिया अपनी अपरिहार्यता के बावजूद पाठक के मन को एक हल्की-सी व्यथा से भर देती है। रेणु की दृष्टि में शहर औद्योगीकरण और पूंजीवाद का ही प्रतीक नहीं, उस खोखली, कृत्रिम और आधारहीन जीवन-पद्धति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो हमारे जनपदों के लोक-जीवन की सहजता और कलात्मकता को भी धीरे-धीरे लील रही है। सम्भवतः इसीलिए 'रसप्रिया', 'विघटन के क्षण', 'उच्चाटन', 'ठेस' तथा 'भित्तिचित्र की मयूरी' आदि कहानियों में रेणु का ग्राम संस्कृति के प्रति मोह मूर्तिमान हो उठा है। 'विघटन के क्षण' और 'उच्चाटन' में जहां देहाती युवकों का शहर की चकाचौंध से आकृष्ट होकर गांव से भागने की दुखद स्थिति का चित्रण है वहां 'रसप्रिया', 'ठेस' और 'भित्तिचित्र की मयूरी' कहानियों में गांव की माटी में रची-बसी लोक-कलाओं के ह्रास की अवांछनीय और लोक-कलाकारों के उपेक्षित जीवन की करुण स्थिति पाठकों के सामने उभरती है।

आम आदमी का सुख-दुःख

रेणु की कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति उनके पात्र हैं और इन पात्रों की शक्ति उनकी विलक्षणता नहीं, सामान्यता है। रेणु के पात्र आम आदमी, मामूली व्यक्ति और छोटे लोग हैं जिनके छोटे-छोटे सुख-दुखों से ही लेखक की अधिकांश कहानियों का ताना-बाना बुना गया है। ये लोग देहाती भी हैं और शहरी भी। रेणु के पात्र जीवन की अनेकानेक सुखद और दुखद परिस्थितियों से गुजरते हैं जो

मामूली और छोटी-छोटी हैं, यद्यपि इन परिस्थितियों के बीज व्यापक ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में मौजूद हैं। लेखक की अधिकांश कहानियां इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं और इनका परिवेश गांव भी है और शहर भी। ग्रामीण परिवेश की इस वर्ग की कहानियों में 'तीर्थोदक', 'नित्य लाला', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'पंचलाइट', 'सिर पंचमी का सगुन', 'लाल पान की बेगम', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'उच्चाटन', 'नैना जोगिन', 'संवदिया' आदि का उल्लेख हो सकता है। 'काक चरित', 'आजाद परिन्दे', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'प्रजा सत्ता' आदि शहरी परिवेश की कहानियां भी वास्तव में छोटे लोगों के छोटे-छोटे सुख-दुःखों की ही कहानियां हैं। 'पंच लाइट' में गांव में महतो टोली के पंच जैसे-तैसे रुपये इकट्ठे करके एक पंचलाइट अर्थात् पेट्रोमेक्स खरीद लेते हैं। यह बात सारी टोली के लिए अभूतपूर्व उत्साहवर्द्धक और सुखद घटना है। किन्तु इस कटु यथार्थ से दो-चार होने पर कि जात-बिरादरी में कोई भी आदमी पेट्रोमेक्स जलाना नहीं जानता, उनका सारा उत्साह दुख में बदल जाता है। 'लाल पान की बेगम' अर्थात् बिरजू की मां बैलगाड़ी पर सवार होकर नाच देखने के लिए तैयार बैठी है। लेकिन जब बिरजू का बाप काफी देर तक भी गाड़ी लेकर नहीं आता है तो उसका सारा चाव ठंडा पड़ जाता है। गांव की मुंहजोर बहू, जंगी की पतोहू की बोली जले पर नमक का काम करती है और बिरजू की मां को लगता है कि सारी दुनिया उसकी शत्रु है। लेकिन अन्त में जब बिरजू का पिता गाड़ी लेकर आता है तो उसके मन का सारा मैल अपने आप धुल जाता है। वह खुद जंगी की पतोहू को मना लेती है और बैलगाड़ी पर बिठाकर अपने साथ नाच देखने के लिए ले जाती है। 'काक चरित' में किसनलाल को अपनी परेशानियों के कारण बिजली के खम्भे पर बैठे 'कांव-कांव' करने वाले कौवे को देखकर लगता है कि यह मनहूस पक्षी एक तो सुबह-सुबह 'अशुभ भाखने' लगा और दूसरे मर्करी बार में लगे पतले तार को खींचकर 'सैंवटाज' कर रहा है। परन्तु कुछ समय बाद जब डाकिया कोई खुशखबरी लेकर आता है तो किसनलाल न केवल कौवे के आगे मछली का टुकड़ा डालता है बल्कि उसे एक पुराना गीत 'सोने से चोंच मढ़ा दूंगा कागा' भी याद आता है। 'जड़ाऊ मुखड़ा' के बटुक बाबू इसलिए मानसिक अशान्ति भोग रहे हैं कि उनकी पुत्री बुला के चेहरे पर मस्सा है जिसमें एक रोयां उग आया है और जिस कारण उसका विवाह नहीं हो सकेगा। आखिर यह निश्चित किया जाता है कि मस्से को ऑपरेशन करके चेहरे से हटा दिया जायगा। ऑपरेशन के लिए सारी तैयारी की जाती है पर ऐन मौके पर सर्जन स्पेशलिस्ट डॉक्टर उमेश मस्सा काटने से इनकार कर देता है। उसने बुला

के मस्से पर ही रीझकर उससे विवाह करने का निश्चय किया है।[1]

इस वर्ग की कहानियों में कुछ कहानियां ऐसी भी हैं जिनमें अकेलेपन का बोझ ढोने वाले व्यक्तियों की जीवन में जम जाने की लालसा, या कम से कम कहीं से कोई कोमलता और सहृदयता पाने की आदिम प्यास मुखर हो उठी है। 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'कस्बे की लड़की' ऐसी ही कहानियां हैं।

राजनीतिक कहानियां

फणीश्वरनाथ रेणु लेखन की ओर प्रवृत्त होने से पूर्व एक राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उनकी राजनीतिक सक्रियता स्वदेश तक ही सीमित नहीं रही, पड़ोसी देश नेपाल के राजनीतिक आन्दोलनों से भी उनका गहरा लगाव रहा। सन् १९५२ में लम्बी बीमारी के उपरान्त तथा लतिका जी के साथ विवाह होने के बाद जब उन्होंने राजनीति को तिलांजलि देकर साहित्य को स्थायी रूप से अपनाया तब भी वे केवल सक्रिय राजनीति से अलग हुए। जैसा कि मधुकर सिंह को दिये इन्टरव्यू में रेणु ने स्वीकारा है, राजनीति तो सदा उनके लिए 'दाल-भात की तरह' रही।[2] सक्रिय राजनीति से अलग होने का उनका संकल्प भी क्षीण सिद्ध हुआ जब सन् १९७२ में उन्होंने बिहार विधान सभा की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ा या जब वे सन् १९७४ में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे बिहार आन्दोलन में शामिल हो गये। राजनीति उनके अनुभव-क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। अतः स्वाभाविक है कि उन्होंने राजनीतिक विषयों को लेकर भी कहानियां लिखीं। इन कहानियों में जहां सामाजिक न्याय प्राप्त करने के हेतु राजनीतिक क्रान्ति के लिए छटपटाहट का स्वर मिलता है, वहां दलगत राजनीति अथवा राजनीति में निहित स्वार्थों के फलस्वरूप उत्पन्न मोहभंग की स्थिति भी उभरकर सामने आती है। 'तबे एकला चलो रे', 'पुरानी कहानी : नया पाठ', 'आत्मसाक्षी', 'जलवा', 'बीमारों की दुनिया' ऐसी ही कहानियां हैं।

फुटकल कहानियां

रेणु की बहुत-सी कहानियां ऐसी हैं जिन्हें आंशिक रूप में उपरोक्त तीनों

---

१. यहां उल्लेख कहानियों का, उनके कुछ मोटे कथा-सूत्रों की ओर ही संकेत करके, एक प्रकार से सरलीकरण किया गया है। वास्तव में इनकी कथात्मक संरचना और संवेदना काफी जटिल और संश्लिष्ट है जिसकी विशद चर्चा आगे की जायगी।

२. सारिका, मार्च, १९७१, पृ० ८३

प्रकार की कहानियों के तत्त्व मिलने के बावजूद, इन तीनों में से किसी भी वर्ग में नहीं रखा जा सकता। कुछ कहानियां ऐसी हैं जिनमें रेणु के साहित्य और कला संबंधी विचार और मान्यताएं कथा का रूप धारण करती हैं; जैसे—'तीन बिंदियां', 'अगिनखोर' तथा 'अग्नि संचारक'। 'रेखाएं : वृत्तचक्र', 'दसगज्जा के इस पार और उस पार' जैसी कहानियां आत्मकथात्मक या यों कहें आत्मविश्लेषणात्मक हैं। इनमें लेखक के आकांक्षा-निराशा, आस्था-अनास्था, जिजीविषा-मृत्युकामना, सदाशयता-अपराधबोध आदि के संश्लिष्ट भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। जहां रेणु ने इस प्रकार की गम्भीर कहानियों की रचना की है वहां कुछ हल्की-फुल्की कहानियां भी लिखी हैं जिनमें किन्हीं पात्रों का 'कैरिकेचर' प्रस्तुत किया गया है और जिनका प्रभाव रेडियो से प्रसारित होने वाली हल्की-फुल्की रोचक वार्ताओं से मिलता है। उदाहरणस्वरूप 'ना जाने केहि वेश में', 'अतिथि सत्कार', 'अकल और भैंस' जैसी कहानियों का उल्लेख हो सकता है।

रेणु का परिवेश

फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म ४ मार्च, १९२१ को बिहार के पूर्णिया जिले के एक गांव में हुआ था। उनके निजी जीवन का क्षेत्र भी मुख्यतया बिहार प्रदेश का यह उत्तर-पूर्वी भाग ही रहा। देश का यही भू-भाग मुख्य रूप से उनकी कहानियों और उपन्यासों का कथा-क्षेत्र या 'लोकाल' है जिसे उन्होंने विलक्षण संवेदनशीलता के साथ प्रतिबिम्बित और प्रतिरूपायित किया है। पूर्णिया जिला पहले भागलपुर डिवीजन के अन्तर्गत था पर अब इसके साथ कटिहार और सहरसा को मिलाकर कोसी डिवीजन नाम से अलग मंडल बनाया गया है। इस जिले की सीमाएं उत्तर में नेपाल तथा पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले से; पूर्व में पश्चिम बंगाल के दीनाजपुर और मालदा जिलों से; दक्षिण में भागलपुर, संथाल परगना तथा पश्चिम बंगाल के मालदा जिले से तथा पश्चिम में सहरसा से मिलती हैं।

रेणु का गांव औराही हिंगना इसी जिले में उत्तर-पूर्व सीमांत रेलमार्ग पर सिमराहा स्टेशन के पास फारबिसगंज से दस किलोमीटर दक्षिण आम के बागों और हरे-भरे खेतों के मध्य आबाद है। रेणु ने अनेक कहानियों में इस गांव का चित्रण किया होगा, परन्तु जहां तक इन पंक्तियों के लेखक की जानकारी है, औराही हिंगना का नामोल्लेख किसी कहानी में नहीं मिलता है। हां, पूर्णिया जिले के अन्य प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध गांवों, कस्बों और शहरों का जिक्र उनकी कहानियों में बार-बार मिलता है। वास्तव में कोसी तथा पनार, बकरा, लोहन्द्रा और महानदी आदि उसकी शाखा नदियों का सारा इलाका ही रेणु का कथा-क्षेत्र है।[1]

१. 'पुरानी कहानी : नया पाठ'

उनकी अनेक कहानियों की घटनाएं भारत-नेपाल सीमा के आर-पार स्थित गांवों और कस्बों तथा विराटनगर, जोगबनी, फारबिसगंज, अररिया कोर्ट आदि में घटती हैं।[2] कटिहार और खासकर कटिहार रेलवे जंक्शन के प्रति रेणु का विशेष मोह लक्षित होता है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का घटनास्थल कटिहार स्टेशन के आस-पास बसे गांव ही हैं। 'तीर्थोदक' में कटिहार से बनारस तथा 'ना जाने केहि वेश में' में कटिहार से बरौनी तक की रेल-यात्रा का वर्णन है। रेणु की एक असंकलित कहानी 'तवशुभ नामे···' का वक्ता यह कहकर मानो उनके मन की ही बात कर रहा है कि 'गांव समाज से नेह-छोह तोड़े दो दशक हो गये। अब कभी अपने गांव की याद नहीं आती।···जिस गांव में मेरा जन्म हुआ, उसका नाम भी चेष्टा करके भूल गया हूं। किन्तु इस कटिहार जंक्शन रेलवे-स्टेशन के मोह को अब भी काट नहीं सका हूं।"[3]

बिहार सोशलिस्ट पार्टी की सक्रिय सदस्यता के कारण रेणु को बिहार के इस उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में जगह-जगह घूमने और वहां के जन-जीवन तथा लोगों की समस्याओं को समझने का अवसर मिला। इस संबंध में मधुकर सिंह के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—'किसान-मजदूरों में काम करने से मुझे कम फायदे नहीं हुए—बल्कि सच पूछिए तो राजनीति ने मुझे बहुत दिया : अपने जिले के गांव-गांव घूमा, लोगों से मिला, उनके सुख-दु.ख से परिचित हुआ, चन्दे वसूले। अपनी सक्रियता के कारण साथियों के साथ गांवों में रात के वक्त भी डेरा डालना पड़ता···रात में दूर से कभी ढोलक-झांझ पर नाच-गान की स्वर-लहरी मंडराती आती और मैं अपने साथियों को सोते छोड़ वहां चल देता। कभी 'विदेशिया', कहीं 'जालिमसिंह सिपहिया' और किसी गांव में 'ननदी भउजिया' के नाच-गान। मैं नाच देखने से ज्यादा नाच देखने वालों को देखकर अचरज से मुग्ध हो जाता। जहां तक बोली और भाषा का प्रश्न है, इन्हीं गांवों में घूमकर भाषा की शक्ति को समझने का मौका मिला। मैं यह मानता हूं कि वे लोग ही—गांव के किसान-मजदूर ही मुझसे लिखवाते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे भूख लगने पर आदमी 'एक्शन' और तनाव दोनों महसूस करता है।"[4]

सन् १९५२ में लम्बी बीमारी के बाद स्वस्थ होकर तथा लतिका जी के साथ विवाह करने के बाद रेणु मुख्य रूप से पटना में ही रहने लगे। यद्यपि वे बीच-बीच में अपने गांव अवश्य जाते थे, फिर भी गांव के साथ उनका एक प्रकार से नाता टूट

१. 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'अच्छे आदमी', 'दसगज्जा के इस पार और उस पार'
२. सारिका, जुलाई १९७१, पृ० ४०
३. सारिका, मार्च १९७१, पृ० ८७

गया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके पहले कहानी-संग्रह 'ठुमरी' में जहां नौ में से आठ कहानियां ग्रामीण परिवेश की हैं, वहां दूसरे संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' की चौदह कहानियों में से केवल आठ का परिवेश ग्रामीण है। तीसरे और अन्तिम कथा-संग्रह 'अगिनखोर' की ग्यारह कहानियों में से मात्र तीन ऐसी हैं जिन्हें ग्रामीण परिवेश की कहानियां कहा जा सकता है। पटना में स्थायी रूप से रहने के बाद रेणु ने 'जलवा', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'रेखाएं : वृत्तचक्र', 'जैव', 'टेबुल' आदि कहानियों में 'लोकाल' के रूप में पटना को चुना है। 'कस्बे की लड़की' कहानी हजारीबाग नगर में घटती है। 'तीसरी कसम' की शूटिंग के सिलसिले में जब उन्हें कई बार बम्बई आना-जाना पड़ा तो उन्होंने 'लफड़ा' नाम से इस महानगर के जीवन के एक पक्ष को लेकर भी कहानी लिखी। फिर भी यह बात असंदिग्ध है कि रेणु की ग्राम-कथाओं की संख्या उनके द्वारा लिखी ग्रामेतर कहानियों से दुगुनी है। इन्हीं ग्राम कथाओं में ही उनकी प्रतिभा भी अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रकट हुई है।

रेणु की ग्राम-कथाओं के विषय में दो बातें विचारणीय हैं। पहली बात यह है कि रेणु के ग्राम आधुनिक सभ्यता के अछूते, अपरिचित, अनचीन्हे विशिष्ट जीवन-क्षेत्र या 'अंचल' नहीं हैं, जैसी कि कतिपय 'विद्वानों' की स्थापना है। बिहार का पूर्णिया जिला लद्दाख या अण्डमान द्वीप की तरह देश का कोई अलग-थलग और इस कारण अत्यधिक पिछड़ा क्षेत्र नहीं है। और फिर, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रेणु की कथा-भूमि पूर्णिया जिले के गांव ही नहीं, आधुनिक भारतीय इतिहास का वह काल-खंड है जहां सामन्तवाद के प्रतीक गांव में पूंजीवाद का प्रतीक नगर घुस रहा है। आधुनिक हिन्दी कहानी के संदर्भ में देहात में घुसने वाले जिस नगरबोध की चर्चा डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने की है, रेणु की कहानियों का परिवेश वही है।[1] इस विषय में रेणु ने अपने विचार स्वयं इन शब्दों में प्रकट किए हैं—"अब तो कितने ही गांवों में नगरोचित सुविधाएं प्राप्त हैं—मसलन, सड़कें, बिजली, सुलभ-शिक्षा, पुस्तकालय, स्पोर्ट्स आदि। यदि ऐसे गांवों को गांव मानें तो गांवों की कोटियां निर्धारित करनी होंगी। यदि इन्हें शहर मानें तो निश्चय ही भारत में गांवों की संख्या कुछ कम हो गयी है।"[2]

दूसरी बात यह है कि रेणु ने प्रेमचन्द की तरह ही भारतीय गांवों की समस्त सुन्दरता और कुरूपता को सरलता और सहजता से चित्रित करने के साथ-साथ ग्रामीण जीवन के उस पक्ष को भी पकड़ लिया है जिसे प्रेमचन्द अपनी व्यापक

१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, 'आधुनिकता और हिन्दी साहित्य', पृ० ७४
२. सुवासकुमार के साथ रेणु की बातचीत, 'फणीश्वरनाथ रेणु और उनका परिदृश्य' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित, पृ० १०५)

दृष्टि के बावजूद छोड़ गये थे। वह पक्ष है ग्राम-जीवन का संगीत, उसकी लय और थिरकन। यह बात उनकी कहानियों में अधिक मार्मिकता और कहीं-कहीं अत्यधिक भावुकता का भी समावेश करती है।

पात्र

रेणु का कथा-जगत् भांति-भांति के पात्रों से आबाद और इस कारण भरा-पूरा है। प्रेमचन्द को छोड़कर शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कथाकार की रचनाओं में इस प्रकार नाना वर्गों, वर्णों और वृत्तियों के पात्रों के दर्शन होते हों। रेणु की कहानियां किन्हीं व्यक्तियों की नहीं, समष्टि की कहानियां हैं। रेणु की कहानियों में पात्रों की संख्या प्रायः आधा दर्जन से कम नहीं होती और उनमें यदि उन व्यक्तियों को भी शामिल किया जाय, जिनकी कहानी में चर्चा होती है तो यह संख्या दर्जनों तक पहुंचती है। रेणु के पात्रों में गांव के छोटे किसान, हलवाहे, कहार, लोहार,[1] गाड़ीवान,[2] महतो टोली जैसी छोटी जात के लोग[3] भी हैं और गांव तथा शहर के सम्पन्न और सुखी लोगों के परिवार भी हैं।[4] इनमें शहर के आकर्षण में गांव छोड़कर शहर भागने वाले युवक भी[5] शामिल हैं तथा रेलवे की नौकरी के कारण शहर छोड़कर देहाती स्टेशनों में काम करने वाले रेलवे के छोटे अफसर, पैटमैन, पानी पाण्डे[6], मिस्त्री और मजदूर[7] भी शामिल हैं। लेखक की कहानियों में जोगी-संन्यासियों,[8] पंडित-पुरोहितों[9] के साथ-साथ अपराधियों, बदमाशों और लठैतों[10] के भी दर्शन होते हैं। डॉक्टरों और नर्सों[11] की ही नहीं, देहाती बैदों और पन्सारियों[12] की भी झलक मिलती है। राजनीतिक लोगों में मंत्री,

१. सिरपंचमी का सगुन
२. तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम
३. पंचलाइट
४. तीर्थोदक, ठेस, कस्बे की लड़की, जैव
५. विघटन के क्षण, उच्चाटन
६. एक आदिम रात्रि की महक
७. सिरपंचमी का सगुन
८. विघटन के क्षण, एक आदिम रात्रि की महक
९. तीर्थोदक
१०. लाल पान की बेगम (जंगी और उसका बेटा रंगी)
११. रेखाएं : वृत्तचक्र
१२. हाथ का जस : वाक का सत्त

एम० एल० ए०, राजनीतिक कार्यकर्ता[1] एक ही पार्टी के दो विरोधी गुटों के परस्पर लड़ने वाले कामरेड तथा मोहभंग से ग्रस्त छोटे कार्यकर्ता[2] सभी नजर आते हैं।

रेणु के पात्रों में कलाकारों या कला संस्कृति से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध व्यक्तियों की संख्या भी काफी है। इनमें गीताली, भीताली संगीतज्ञ बहनें, सरोदवादक अकराम, गिटारिस्ट राधेश्याम, कलाकार मनहरराय[3] जैसे अभिजात और प्रतिष्ठित कलाकार भी हैं तथा पंचकौड़ी मिरदंगिया,[4] सिरचन,[5] फुलपत्तिया और उसकी मां[6] जैसे गांव की छोटी जाति के लोक-कलाकार और शिल्पी भी हैं। गांव के मेले की नौटंकी में नाचने वाली हीराबाई[7] भी हैं और बम्बई की फिल्म इंडस्ट्री के लोग भी हैं।[8] 'निरक्षर' जी जैसे पुरानी पीढ़ी के कवि[9] भी हैं और आग उगलने वाले नयी पीढ़ी के विद्रोही कलाकार[10] भी हैं। और इन सबके साथ ही लच्छी बाबू जैसे 'कल्चरजीवी' प्राणी[11] तथा भैरवप्रसाद 'भैरा' जैसे परजीवी साहित्य-प्रेमी[12] भी मिलते हैं।

इन पात्रों के अतिरिक्त रेणु की कहानियों में एक सुन्दर, सुकुमार, सुशीला, ममतामयी और त्यागमयी नारी के बार-बार दर्शन होते हैं जो शरत् की नारी की प्रतिमूर्ति है। 'तीर्थोदक' कहानी में यह काशी के पण्डे की, बिना मां की बेटी अन्नपूर्णा का रूप धरकर आती है जो सभी यात्रियों और जजमानों को जले-कटे की दवा और हाजमा गोली के साथ-साथ अपनी मीठी बोली और प्यार भी बांटती है। 'ठेस' कहानी में यह भानू बनकर उपस्थित होती है जिसके लिए स्वाभिमानी शिल्पी सिरचन सारा मान-अपमान भूलकर रातों-रात शीतलपाटी, चिक और कुश की एक जोड़ी आसनी बुनकर तैयार करता है। यही ममतामयी नारी

१. पुरानी कहानी : नया पाठ
२. आत्म-साक्षी
३. तीन बिंदियां
४. रसप्रिया
५. ठेस
६. भित्तिचित्र की मयूरी
७. तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम
८. लफड़ा
९. ना जाने केहि वेश में···
१०. अगिनखोर
११. अतिथि-सत्कार।
१२. ना जाने केहि वेश में···

'विघटन के क्षण' कहानी में विजया दी के रूप में अवतरित होकर विघटन की सर्वव्यापी आंधी में आस्था की दीपशिखा के रूप में अविचलित जलती रहती है। 'जलवा' की फानिया भी इसी नारी का प्रतिरूप है। यह नारी, जो सन् १९३४ में गांधी जी की प्रार्थना-सभाओं में कुरानशरीफ की आयतों का सस्वर पाठ करती थी, सन् १९४३ के आन्दोलन में विभिन्न शहरों की गलियों में आज़ाद दस्ता के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को लेकर अलख जगाती थी, सन् १९४७ में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के समय उपद्रवियों से जूझते समय जिसके मुख पर आभा छायी रहती थी, इस दुःख से अपने मुखमंडल को बुरके से ढक लेने पर मजबूर हो गयी है कि "अव्वाम की कसमें खाने वाले टुकर-टुकर देखते रहे और फिरकापरस्त अजदहों ने पूरी कौम को लील लिया।" 'संवदिया' की बड़ी बहू के रूप में यह ममतामयी त्यागमयी नारी फिर प्रकट होती है जिसका संवाद न पहुंचाकर हरगोबिन अपना धर्म केवल यह सोचकर बिगाड़ता है कि यदि गांव की लक्ष्मी गांव छोड़कर चली जायगी तो बाकी क्या रह जायगा? इसी कोटि की नारियों के अन्तर्गत 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' की हीराबाई भी आ सकती है जो सीधे-सादे हीरामन गाड़ीवान पर अपना सब कुछ निछावर करना चाहकर भी कुछ न कर पाने के लिए विवश है क्योंकि 'महुआ घटवारिन' को सौदागर ने खरीद लिया है। 'टेबुल' कहानी की मिस दुर्वादास के चरित्र में भी कुछ ऐसा है जिससे कि वह अपनी आत्म-केन्द्रीयता और हठधर्मिता के बावजूद पाठक के मन में अपने लिए ममता और करुणा उपजाती है।

दूसरी ओर रेणु ने कुछ ऐसे नारी-पात्रों की भी सृष्टि की है जिनके गुण और स्वभाव इन ममतामयी त्यागमयी नारियों के बिलकुल प्रतिकूल है। 'अच्छे आदमी' कहानी की प्रदीपकुमार की मां यदि निःसंकोच ठेकेदार, ड्राइवर, दरोगा, लाला, मिस्त्री सभी के साथ संबंध स्थापित कर लेती है तो 'नैना जोगिन' की रतनी की "एक-एक गाली नंगी, अश्लील तसवीर बनाती है···ब्लू फिल्म के दृश्यों की तरह।" परन्तु लेखक ने इन्हें भी अपनी सहानुभूति और संवेदना दी है। वास्तव में रेणु ने एक अथाह संवेदना और लगाव से पात्रों की अच्छाइयों के साथ-साथ उनकी बुराइयों को भी चित्रित किया है। आदमी तो आदमी, उन्होंने 'तबे एकला चलो रे' में किसन महाराज नाम के पांडे को भी उज्ज्वल रंगों में अंकित किया है। हां, समाज का एक वर्ग अवश्य ऐसा है जिसके लिए रेणु के मन में कोई सहानुभूति या ममता नहीं है। यह वर्ग महाजन वर्ग है। रेणु की कहानियों में जहां कहीं महाजन, बनिया, सौदागर, सेठ, साहूकार पात्र बनकर आते हैं, वे स्वार्थी, कंजूस, अन्यायी और दुष्ट व्यक्तियों के रूप में ही चित्रित हुए हैं। 'लाल पान की बेगम' की मखनी फुआ के मन में कंजूस सहुआइन के बारे में यह धारणा है—"और एक वह है सहुआइन! राम कहो! उस रात को अफीम की गोली की तरह एक मटर

भर तम्बाकू रखकर चली गुलाब बाग मेले और कह गयी कि डिब्बी भर तम्बाकू है। 'ठेस' में स्वाभिमानी ग्राम शिल्पी सिरचन महाजन टोले के भज्जू महाजन की बेटी के बनियापन को लक्ष्य करके तिलमिलाने वाली बात कहता है—"बड़ी बात ही है, बिटिया। बड़े लोगों की बस बात ही बड़ी होती है। नहीं तो दो-दो पटेर की पाटियों का काम सिर्फ खेसारी का सत्तू खिलाकर कोई करवाए भला? यह तुम्हारी मां ही कर सकती है, बबुनी!" तीर्थोंदक में साह और सहुआइन के मध्य रुपये-पैसे को लेकर चलने वाली 'ठंडी लड़ाई' से रेलगाड़ी में बैठे अन्य तीर्थ-यात्रियों का ही नहीं, कहानी पढ़ने वाले पाठकों का मन भी खराब हो जाता है। 'प्रजासत्ता' कहानी में रामविलास नामक मुंगेर के एक बड़े साहूकार का बेटा जिसके पास बीड़ी कम्पनी और गल्ले की आढ़त है, पैसे के बल पर ही अपनी साली विमला के साथ बलात्कार करता है और उसकी सास उल्टे अपनी बेटी विमला को ही डांटती है।

रेणु और 'आंचलिकता'

फणीश्वरनाथ रेणु के साथ चिपका 'आंचलिक' लेबल उनके सही मूल्यांकन में बाधा बन गया है। दुर्भाग्य से हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के एक वर्ग के मन में ऐसी धारणा बन गयी है कि रेणु एक 'आंचलिक' लेखक हैं और 'आंचलिक' लेखक शुद्ध लेखक से अलग कोटि का जीव होता है। हिन्दी में 'आंचलिक' उपन्यासों की अलग विधा न सही, उपन्यासों के अन्तर्गत एक वर्ग तो माना गया है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस तरह के उपन्यास मिलते हैं। बंगला में माणिक वन्द्योपाध्याय का पद्मा नदी के माझियों को लेकर लिखा गया उपन्यास 'पद्मनदीर माझी' तथा ताराशंकर वन्द्योपाध्याय का 'भगिनी कन्धार काहिनी', मराठी में पेंडसे का 'गांरवीचा बाबू' और माडगूलकर का 'बनगर बाड़ी' तथा मलयालम में केरल के मछेरों के जीवन को लेकर लिखा गया तकषी शिवशंकर पिल्लै का 'चेम्मीन' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। क्या इन भाषाओं में इन उपन्यासों का अलग आंचलिक वर्ग माना गया है? वास्तव में प्रत्येक यथार्थवादी लेखक किसी न किसी क्षेत्र से जुड़ा होता है। फिर हिन्दी में ही 'आंचलिक उपन्यास' या 'आंचलिक कहानी' नाम से अलग विधा, प्रवृत्ति या वर्ग के लिए आग्रह क्यों?

अंग्रेजी साहित्य में अवश्य 'रीजनल नावेल' नाम से एक प्रवृत्ति को स्वीकार किया गया है। यदि हिन्दी के तथाकथित आंचलिक उपन्यास इस प्रवृत्ति के सीधे प्रभाव के परिणामस्वरूप रचे गये होते तो फिर उनके लिए प्रादेशिक या क्षेत्रीय विशेषण का प्रयोग होना चाहिए था, क्योंकि हिन्दी में 'रीजन' का स्वीकृत पर्याय प्रदेश या क्षेत्र है। हिन्दी में ऐसे उपन्यासों के 'आंचलिक' उपन्यास नामकरण के पीछे एक संयोग या दुर्घटना है। यह दुर्घटना कैसे घटी, इसकी चर्चा करने से पूर्व

यह जानना उपयोगी होगा कि अंग्रेजी में 'रीजनल नावेल' को कैसे परिभाषित किया गया है। वास्तव में 'रीजनल' उपन्यासों और ऐसे उपन्यासों में, जिनमें स्थानीय रंग पाया जाता है, बहुत कम अन्तर है। हैरी शा द्वारा सम्पादित 'ए डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स' में किसी विशेष भू-भाग या क्षेत्र के साहित्य में प्रतिनिधित्व, या लेखन में किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र के निष्ठापूर्वक वर्णन, वहां की बोली, रीति-रिवाजों, लोक-वार्ता, विश्वासों, वेश-भूषा और इतिहास के ठीक-ठीक और सही चित्रण को रीजनलिज्म माना गया है।[1] पुस्तक में यह स्वीकार किया गया है कि ये तत्त्व कमोवेश सभी कथाकृतियों में पाये जाते हैं। अतः यह पारिभाषिक शब्द प्रायः उन्हीं रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता है जिनमें किसी भौगोलिक क्षेत्र का यथार्थ चित्रण ही अपने में इष्ट हो।[2] दूसरी ओर उक्त 'डिक्शनरी' के अनुसार लेखन में किसी विशेष क्षेत्र के वैचित्र्य, वेशभूषा, बोली तथा रीति-रिवाजों को उभारने के प्रयत्न को स्थानीय रंग (लोकल कलर) की संज्ञा दी गयी है।[3] जे० ए० गुडाने द्वारा सम्पादित 'ए डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स' के अनुसार क्षेत्रीय लेखक वह है जो किसी विशिष्ट क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित करके उस क्षेत्र और वहां के निवासियों को अपने कथा-साहित्य का आधार बनाता है।[4] इसी कोश के अनुसार कथा में रोचकता और प्रामाणिकता बढ़ाने हेतु किसी क्षेत्र या परिवेश का विवरण जिसके अन्तर्गत वहां का परिदृश्य, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, संगीत आदि आते हैं, स्थानीय रंग कहलाता है।[5] 'दि ऑक्स-

१. "Regionalism: (1) Representation in literature of a particular section or area, (2) fidelity in writing to a specific geographical region, accurately representing its speech, manners, customs, folklore, beliefs, dress and history."
—Harry Shaw, 'Dictionary of Literary Terms' (Mc-Graw Hill Book Company), p. 319.

२. "Regionalism is an element in nearly all literature, since most selections involve a locale or setting; the term, however, is usually applied to writings in which locale is thought of as a subject interesting in itself" (Ibid).

३. "Local Color: A term applied to writing which develops and promotes the mannerisms, dress speech and customs of a particular region" —Ibid, p. 224.

४. J. A. Guddon, 'A Dictionary of Leterary Terms' (Andre Deutsch, London, 1977), p. 550.

५. Ibid, p. 362

फोर्ड कम्पैनियन टु अमेरिकन लिटरेचर' में क्षेत्रीयता (रीजनलिज्म) तथा स्थानीय रंग (लोकल कलर) के मध्य अन्तर स्पष्ट करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है। इस पुस्तक के अनुसार साहित्य में विशेष भौगोलिक क्षेत्र के चित्रण पर बल देते हुए, पात्रों के जीवन को गति देने वाले क्षेत्रीय इतिहास और लोक-रीति पर संकेन्द्रण ही क्षेत्रीयता है। यह स्थानीय रंग से इस रूप में भिन्न है कि इसमें बोली, व्यवहार और वेशभूषा के वैचित्र्य या अनोखेपन की अपेक्षा मूलभूत दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय विभेद पर ध्यान केन्द्रित करते हुए लेखक एक प्रकार से सांस्कृतिक नृविज्ञानी का कार्य करता है।[१]

ऊपर दी गयी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य में किसी क्षेत्रीयता या 'आंचलिकता' की अपेक्षा स्थानीय रंग ही अधिक मिलता है। रेणु ने अपनी रचनाओं में उत्तर-पूर्वी बिहार के ग्रामीण परिदृश्य का चयन किसी सांस्कृतिक नृवैज्ञानिक अध्ययन के लिए नहीं, अपनी कथाओं को प्रामाणिक संदर्भ देने और उनकी रोचकता बढ़ाने के लिए ही किया है। रहा प्रश्न रेणु द्वारा प्रयुक्त भाषा का। हैरी शा की मान्यता है कि क्षेत्रीय लेखक अपने क्षेत्र की भाषा बोली को ठीक-ठीक और सही रूप में प्रस्तुत करता है। परन्तु रेणु ने ऐसा भी नहीं किया है। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। सन् १९७२ में हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय के दक्षिण एशिया शोध-संस्थान में भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक डॉ० लोठार लुट्से से बातचीत करते हुए उन्होंने स्वीकारा है कि उनके पात्र जो भाषा-बोलते हैं वह न साहित्यिक भाषा है और न वह जिसका प्रयोग उस क्षेत्र के लोग वास्तव में करते हैं। वे मगही या मैथिली बोलते हैं जो साधारण हिन्दी पाठक के लिए दुर्बोध होती। अतः उन्हें भाषा बदलनी पड़ी लेकिन इसके साथ ही उसकी प्रकृति और

१. "Regionalism-term applied to literature which emphasises special geographical setting and concentrates upon the history, manners and folkways of the area as these help to shape lives or behaviour of the characters. It generally differs from 'local color' in that it lays less stress upon quaint oddities of dialect mannerism and costums and more on basic philosophical or sociological distinctions which the writer often views as though he were a cultural anthropologist."—The Oxford Companion to American Literature (4th Ed, 1965), p. 487.

लय को सुरक्षित रखने की कोशिश भी करनी पड़ी।[१]

रेणु द्वारा एक विशेष कथाक्षेत्र के चयन के पीछे उनका कोई सचेष्ट प्रयत्न या आग्रह नहीं था। एक यथार्थवादी लेखक होने के नाते उनके सामने अपने परिवेश की कहानी कहने अर्थात् अपने प्रामाणिक अनुभव को व्यक्त करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प भी नहीं था। जैसा कि रेणु की कहानियों की चर्चा करते हुए डॉ० रामदरश मिश्र ने कहा है, "ग्राम परिवेश और अनुभव की प्रामाणिकता आपस में जुड़े हुए पहलू हैं।"[२] रेणु ने अपने परिवेश की कथा जिस शैली में कही है, वह यथार्थवादी लेखकों की शैली से विशेष भिन्न नहीं है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार स्थानीय प्रादेशिक दृश्यावली तथा वातावरण का अन्तर्भाव; कथावस्तु की दृष्टि से जो पात्र एवं स्थान महत्त्वहीन है, उनका भी सूक्ष्म और सुविस्तृत चित्रण; स्थानीय एवं सामयिक घटनाओं तथा रीति-रिवाजों के विवरण; पात्रों के कथोपकथनों में उनके सामाजिक स्तर एवं प्रदेश के अनुसार भाषा अथवा बोली का प्रयोग (चाहे वह बोली असंस्कृत या क्षुद्र ही क्यों न हो) आदि शिल्प-साधनों का प्रयोग यथार्थवादी लेखक सदा से करते आये हैं।[३] अतः रेणु की रचनाओं का संबंध किसी आंचलिकता से न होकर तथा साहित्य की महान यथार्थवादी परम्परा से है।

यह विडम्बना है कि 'आंचलिक उपन्यास' नामकरण की दुर्घटना, जिसने रेणु का ही सबसे अधिक अहित किया, स्वयं रेणु के हाथों ही घटी थी। ६ दिसम्बर, १९७२ को रेणु के राजेन्द्रनगर (पटना) निवासस्थान पर डॉ० लोठार लुट्से ने उनके साथ एक लम्बी बातचीत टेप की थी। रेणु की मृत्यु के बाद यह बातचीत 'नया प्रतीक' दिल्ली के जून १९७७ अंक में छपी है। इस बातचीत के दौरान जब डॉ० लुट्से ने रेणु से शहरी और आंचलिक वर्ग के भेद के विषय में उनके विचार जानने चाहे तो रेणु ने विस्तार से सारी स्थिति इन शब्दों में स्पष्ट की थी—"यह दुष्कर्म—यह पाप भी मैंने ही किया। 'जब 'मैला आंचल' मैंने लिखा और जब उसका भीतर का टाइटल छपने को जा रहा था—तब मैंने लिखा 'मैला आंचल' और फिर मैंने उसके नीचे लिख दिया 'एक आंचलिक उपन्यास'। मैंने यह यही सोचकर किया कि मैंने जो शब्दों का इस्तेमाल किया, जैसी भाषा लिखी, क्या पता उसको लोग कबूल करेंगे या नहीं करेंगे—इसीलिए मैंने उसे आंचलिक उपन्यास कह दिया। अगर उस समय वहां डॉ० लुट्से जैसे मेरे मित्र कोई होते

१. नया प्रतीक, जून, १९७७
२. हिन्दी कहानी : अन्तरंग पहचान, पृ० ११८
३. मानविकी पारिभाषिक कोश : साहित्य खंड (राजकमल प्रकाशन, १९६५), पृ० २१९

और कहते कि 'यह क्यों? उपन्यास तो उपन्यास होता है, आंचलिक क्या होता है?' तब शायद मैं हटा लेता। लेकिन मैंने तो वह कर दिया। और उसके बाद लोगों ने एक खांचा बना दिया 'आंचलिक' का। और थोड़ी-सी घबराहट और हुई उनको—हुई थी, लेकिन फिर एक बहाना भी मिल गया कि चलो, यह तो 'आंचलिक उपन्यासकार' है। तो चलो आंचलिक उपन्यासकार। जैसे कि आंचलिक उपन्यास को आदमी से तो कुछ लेना-देना नहीं, समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं है। बस अंचल एक चीज है और आंचल आंचलिक उपन्यास है। और आंचलिक लेखन की नकल जिन लोगों ने शुरू की ज्यादा मारा उन्हीं लोगों ने। ये लोग करते थे यह कि कुछ शब्दावली नोट कर लेते थे और उसको फिर एक कहानी में घोटते थे।"[१]

'मैला आंचल' की भाषा की स्वीकृति के विषय में आशंका के कारण ही रेणु ने उसे 'आंचलिक उपन्यास' की संज्ञा दी। मगर वे उसे प्रादेशिक, क्षेत्रीय या जनपदीय उपन्यास भी कह सकते थे। उन्होंने 'आंचलिक' विशेषण ही क्यों चुना, इसका भी कारण है। 'मैला आंचल' की भूमिका में "यह है 'मैला आंचल', एक 'आंचलिक उपन्यास,' कथांचल है पूर्णिया।..." इत्यादि लिखकर उन्होंने 'आंचल' शब्द की आवृत्ति से यमक अलंकार का प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश की थी। ऐसा करना उस कलाकार के लिए अस्वाभाविक नहीं था जिसने कविता और तुकबंदी से अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ किया था। और फिर बिहार में सौ से लेकर डेढ़ सौ गांवों का समूह जो राजस्व प्रशासन की इकाई हो, अंचल ही कहलाता है।[२]

रेणु को उस दुष्कर्म या पाप का फल भी शीघ्र ही मिला। लोग उनकी शिल्पगत विशेषताओं में, उनकी विलक्षणता, यहां तक कि उनकी कमजोरियों में भी आंचलिक उपन्यास की परिभाषा खोजने लगे। रघुवीर सहाय ने उचित ही कहा है कि "विलक्षणता और विचित्रता खोजकर उससे चौंकने को आतुर सहृदयों ने रेणु की शैली को आंचलिक कहकर अपने को नागर जताने का प्रयत्न किया था। पर वह उनके अपने व्यक्तित्व की, न आंचलिक न नागर, बल्कि विश्वसनीय

१. 'नया प्रतीक', जून १९७७, पृ० ११

२. "Anchal : Unit of revenue administration below sub-divisional level and above the halka level. An Anchal has about ten to twelve halkas and each halka comprises ten to twelve villages."

—Bihar District Gazetteer : Purnea (1963), p. 816

अभिव्यक्ति है।"[१] जिसे भ्रमवश आंचलिक शैली का नाम दिया गया वह वास्तव में रेणु की अपनी प्रविधि है जिसके दर्शन हमें 'मैला आंचल' से काफी समय पूर्व रची गयी रेणु की कहानियों में भी होते हैं। उदाहरण के लिए 'रसूल मिसतिरी' नामक कहानी को लिया जा सकता है। यह कहानी 'विश्वमित्र' कलकत्ता के फरवरी १९४६ के अंक में, अर्थात् 'मैला आंचल' के प्रकाशन से कम-से-कम आठ वर्ष पूर्व छपी थी। कहानी के आरंभ में रेणु अपनी विशिष्ट शैली में, जिसमें वर्णनात्मकता की अपेक्षा दृश्यात्मकता अधिक है, मानक भाषा की अपेक्षा 'कलोक्विअल' बोली का प्रयोग अधिक है, एक 'गंवारू' शहर के परिवर्तन को इस प्रकार अंकित करते हैं—

"खलीफा फरीदी की फटफटाने वाली फटीचर सिंगर मशीन और उनकी कैंची के काट-छांट के दिन लद गये। 'माडर्न-कट-फिट' के 'लत्तू मास्टर' का जमाना है।...'रेस्ट्रां' और 'टी-स्टालों' की संख्या तो 'शाक-भाजी' की दुकानों से भी बढ़ गयी है।"[२]

इस कहानी में भी रेणु ने अपनी विशिष्ट शैली में शब्दों के आशय के साथ-साथ उनकी ध्वन्यात्मकता से भी अर्थबोध कराते हुए चेतना के अनेक स्तरों को एक ही सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया है। रसूल मिस्त्री काम भी करता जाता है और बात भी करता रहता है जिसका वर्णन रेणु इस प्रकार करते हैं—

"ठुक्-ठुक्-ठुक्, ठुक्-ठुक्-ठुक्"

—तो समझे न जी, दोजख-बहिश्त, सरग-नरक सब यहीं हैं, यहीं। अच्छे और बुरे का नतीजा यहीं मिल जाता है। रामचन्दर बाबू को देखो न!...अरे रहीम! जरा पेंचकश फेंकना तो...रामचन्दर बाबू...अरे भाई छोटा वाला...[३] इत्यादि इत्यादि।

रेणु के साथ 'आंचलिक उपन्यासकार' का लेबल चिपक जाने से उनके मन में कैसी प्रतिक्रिया हुई थी इसका कुछ-कुछ आभास 'दीर्घतपा' उपन्यास की भूमिका में मिल सकता है। भूमिका के आरम्भ में ही रेणु अपनी परेशानी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"यह उपन्यास...नहीं, आंचलिक नहीं...हां, आंचलिक ही...किन्तु...अर्थात् यह उपन्यास उपन्यास है।"[४] रेणु को तब तक शायद अपनी गलती का एहसास हो चुका था जिससे लोगों में वे कथाकार के रूप में नहीं, मात्र

१. रघुवीर सहाय, 'कवि की यात्राएं' (देखिए, रेणु की मरणोपरान्त प्रकाशित कृति 'ऋणजल : धनजल', पृ० ९)

२. 'विश्वमित्र', कलकत्ता, फरवरी १९४६, पृ० ४४

३. वही, पृ० ४५

४. 'दीर्घतपा' (बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना), भूमिका

आंचलिक लेखक के रूप में पहचाने जाते थे।

प्रायः यह माना जाता है कि तथाकथित आंचलिक या रीजनल कथाओं में लेखक का उद्देश्य किसी क्षेत्र या अंचल विशेष को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करता होता है। उपन्यास के विस्तृत पटल पर ऐसा किया जा सकता है। परन्तु क्या कहानी के छोटे-से कैनवस पर, पिन-होल कैमरा के दृश्य-पट पर ऐसा करना संभव है? एक कहानी किसी अंचल-विशेष की कितनी विशिष्टताओं को अपने में समा सकती है? उसके सीमित विषय-क्षेत्र में उस अंचल-विशेष की समग्रता कैसे उभरेगी? निर्मल वर्मा ने भी रेणु पर चिपकाए गये इस आंचलिक लेबल का विरोध करते हुए लिखा है—"रेणु का स्थान यदि अपने पूर्ववर्ती और समकालीन आंचलिक कथाकारों से अलग और विशिष्ट है तो वह इसमें है कि आंचलिक उनका सिर्फ परिवेश था, उसके भीतर बहती जीवनधारा स्वयं अपने अंचल की सीमाओं का उल्लंघन करती थी। रेणु का महत्त्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखंड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति रेखा को उजागर किया था।"[१] रेणु ने जिन स्थितियों और पात्रों की सृष्टि की है, वे भारत के किसी भाग के लिए अजनबी नहीं लगते। अज्ञेय ने उचित ही कहा है—"रेणु हर बार हवा में हाथ बढ़ाते थे और पकड़ लाते थे एक नया और अभूतपूर्व पंछी···और ऐसा पंछी जिसे देखकर हम कहें कि 'इसे हमने पहले कभी नहीं देखा', लेकिन पहचानें कि 'अरे, इसे तो हम हर रोज देखते हैं।"[२] यही कारण है कि रेणु का कथा-साहित्य पाठक के मन में विलक्षणता का नहीं, आत्मीयता का प्रभाव उत्पन्न करता है।

फणीश्वरनाथ रेणु को 'आंचलिक कथाकार' मानकर उनके क्षेत्र को सीमित करने की प्रवृत्ति के पीछे एक मासूम गलती, नासमझी ही नहीं, कुछ और भी दिखाई देता है। डॉ० शिवकुमार मिश्र ने बात की तह तक पहुंचने की कोशिश करते हुए स्पष्ट लिखा है—"जब रेणु को महज एक आंचलिक कथाकार के रूप में सीमित कर देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है तो हर उस आदमी का हैरान हो उठना स्वाभाविक है जिसने उनकी कृतियों के माध्यम से एक पूरे के पूरे देश की व्यथा-कथा से परिचय प्राप्त किया था।···रेणु या नागार्जुन जैसे रचनाकारों के संबंध में आंचलिकता की खास चर्चा करने वालों में कुछ की नीयत इस कारण साफ मालूम नहीं पड़ती कि इस प्रकार की बात करके वस्तुतः वे उन्हें

१. देखिए 'ऋणजल : धनजल' (रेणु) के आरंभ में निर्मल वर्मा का लेख, 'समग्र मानवीय दृष्टि', पृ० १८
२. अज्ञेय, 'कितनी खरी थी रेणु की यह दुनिया' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित), पृ० ३

प्रेमचन्द की सशक्त तथा जीवन्त परंपरा से काट देना चाहते हैं, जबकि रेणु हिन्दी के उन कथाकारों में हैं जिन्होंने आधुनिकतावादी फैशन की परवाह न करते हुए, कथा-साहित्य को एक लम्बे अर्से के बाद प्रेमचन्द की उस परंपरा से फिर से जोड़ा जो बीच में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन की केन्द्रीयता के कारण भारत की आत्मा से कट गयी थी।"[१]

इसी प्रकार डॉ० कुंवरपाल सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना' में रेणु के कथा-साहित्य का संबंध व्यक्तिवादी उपन्यासों के विरोध में राजनीतिक और सामाजिक वर्ग-संघर्ष की भावभूमि पर रचे गये उपन्यासों की परंपरा से जोड़ते हुए लिखा है—"यह शायद सुनियोजित षड्यन्त्र था कि उस धारा के उपन्यासों को प्रकाश में नहीं आने दिया गया और वे लगभग उपेक्षित-से रहे। 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे', 'गंगा मैया' आदि कुछ ऐसे ही उपन्यास हैं। 'मैला आंचल' में संभवतः पहली बार गांवों में भूमि-व्यवस्था के बदलते रूपों को चित्रित किया गया है और 'परती : परिकथा' में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में आरंभ हुए औद्योगीकरण की ओर संकेत किया गया है। कथ्य और शिल्प दोनों की दृष्टि से ये उपन्यास बहुत लोकप्रिय भी हुए, लेकिन एक बार फिर सुनियोजित ढंग से वास्तविक समस्याओं और बदलते आर्थिक सामाजिक परिवर्तनों से ध्यान हटाने की कोशिश की गयी। इन कृतियों पर 'आंचलिकता' का लेबल लगाकर निरन्तर इनका महत्त्व कम करने का प्रयास किया गया और इस आंचलिकता के बिल्ले से छुटकारा पाने के लिए 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' के बाद 'दीर्घतपा' और 'जुलूस' जैसे उपन्यास मिले।"[२]

इस सारी बहस से यह बात असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाती है कि फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य में 'आंचलिकता' को खोजने, अथवा आंचलिकता के कृत्रिम और निरर्थक मापदण्डों के आधार पर उनके साहित्य को परखने की कोशिश से उनका सही मूल्यांकन नहीं हो सकता है। रेणु का अध्ययन एक ऐसे यथार्थवादी और जनवादी कथाकार के रूप में होना चाहिए जिसकी शक्ति—जार्ज लूकाच के शब्दों में—उसका जन-प्रेम, जन-विरोधियों के साथ-साथ जनता की अपनी भ्रान्तियों के प्रति घृणा, सत्य और यथार्थ को उद्घाटित करने की अदम्य इच्छा तथा समस्त मानवता की उज्ज्वल भविष्य की ओर प्रगति में अडिग आस्था है।[३]

१. डॉ० शिवकुमार मिश्र, 'प्रेमचन्द की परंपरा और फणीश्वरनाथ रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित), पृ० ४६-५०
२. डॉ० कुंवरपाल सिंह, 'हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना' (पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७६), पृ० ११
३. George Lukacs, 'Studies in European Realism', p. 19

रेणु का कथा-शिल्प

किसी साहित्यिक कृति में कथ्य या मूल वस्तु का महत्त्व निर्विवाद है। परन्तु कृति या अंतिम वस्तु में उस कथ्य या मूल वस्तु के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। मूल वस्तु को अंतिम वस्तु का, अथवा कथ्य को कृति का रूप देने के लिए लेखक जिन युक्तियों का प्रयोग करता है वे ही शिल्प हैं। शिल्प वह माध्यम है जो अनुभूति को अभिव्यक्ति में बदल देता है। अतः लेखक के मूल अनुभव को छोड़कर कृति में जो कुछ भी हो, उसे शिल्प के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

शिल्प अपने में कोई निरपेक्ष इकाई नहीं है। प्रत्येक अनुभूति अपने लिए उचित माध्यम तथा अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त उपकरणों की मांग करती है। अपने कथ्य को सही ढंग से अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लेखक असंख्य सम्भावनाओं में से कुछेक को चुनने के लिए विवश होता है और चुनने की यह प्रक्रिया ही शिल्प-चेतना है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिल्प रूपवादी-रीतिवादी सीमाओं से मुक्त होकर लेखक के उद्देश्य से जुड़ जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि शिल्प एक प्रकार से कथ्य का ही विस्तार है।

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों में चित्रित मानव-स्थितियां जिस प्रकार अजीब दीखने के बावजूद चिर-परिचित लगती हैं, उसी प्रकार उनका कथा-शिल्प भी अटपटा दीखने के बावजूद बहुत ही सहज और स्वाभाविक है। रेणु का कथा-शिल्प उन्हीं को अटपटा लगता है और उन्हीं लोगों को इससे सबसे अधिक आघात भी लगता है जो चुस्त-दुरुस्त तथा एक सरल रेखा में चरम सीमा तक पहुंचकर समाप्त होने वाली कहानियां पढ़ने के आदी हों; अथवा जो कहानी की शास्त्रीय परिभाषाओं के आधार पर उसमें 'शुद्धता' की मांग करते हों। जिन्होंने पाठ्य-पुस्तकों में यह पढ़ा हो कि कहानी (शार्ट स्टोरी) में मुख्य कथा के अतिरिक्त अन्य कोई उपकथा या प्रासंगिक कथा नहीं होती है, तथा इसमें पात्रों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं होती है, उन्हें यह देखकर सचमुच परेशानी होती है कि रेणु की कहानियों में मुख्य कथा के साथ-साथ प्रासंगिक कथाएं ही नहीं, अनेक

उपाख्यान, वृत्तान्त, असम्बद्ध प्रसंग, गप्पें, अफवाहें तथा दर्जनों उपस्थित पात्रों के साथ बीसियों अनुपस्थित व्यक्तियों के किस्से मिलते हैं। सम्भवतः इसी कारण कुछ लोगों को यह शिकायत है कि रेणु की कहानियां शिल्प की दृष्टि से 'ढीली' हैं। परन्तु तथ्य यह है कि रेणु का कथा-संसार इस वास्तविक संसार का बहु-आयामी प्रतिरूप है। शुद्धता और शास्त्रीयता का मोह त्यागकर उन्होंने जन-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों को इस प्रकार काट-छांट कर परस्पर जोड़ा है जिससे समय का यथार्थ और मानव-नियति का एक 'कोलाज' हमारे सामने उभरता है। इस बात को रेणु की कहानियों की संरचना की परीक्षा से स्पष्ट किया जा सकता है।

कहानियों की संरचना

कहानी की संरचना से तात्पर्य उसका नियोजित ढांचा है।[1] इसके अन्तर्गत कहानी में वर्णित विभिन्न प्रसंग और विवरण तथा उनका संगुम्फन और संघटन आता है। रेणु की कहानियों की विशेषता यह है कि उसमें आवश्यक वर्णन के साथ-साथ मुख्य कथा के विकास की दृष्टि से विषयान्तर-से लगने वाले अनावश्यक (?) प्रसंग और विवरण भी मिलते हैं। परन्तु ये अनावश्यक दीखने वाले विवरण वास्तव में अनावश्यक नहीं, बल्कि कथा-संरचना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इन विवरणों का प्रभाव बड़ा ही सूक्ष्म तथा कहानी के समग्र प्रभाव में संयोजक होता है। ये विवरण कथानक के न सही, कथात्मकता के अविच्छिन्न अंग होते हैं। यहां कथानक (प्लॉट) और कथात्मकता (नैरेटिव) के मध्य अन्तर को समझना आवश्यक है। कथानक कहानी के मोटे कथा-सूत्रों को कार्य-कारण संबंध में बांधने वाली वह सरल रेखा है जिसका संबंध हमारी उत्सुकता-वृत्ति के साथ होता है। कथात्मकता का निर्माण कथानक की सरल रेखा के चारों ओर बिखरे बिन्दुओं से होता है जो कहानी को गहराई देते हैं और जिनका संबंध जनजीवन के साथ हमारी स्वाभाविक रुचि से होता है। नार्थ्रोप फ्राइ ने कथानक और कथात्मकता के मध्य अन्तर बहुत ही सटीक शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"कथानक उन वृक्षों और भवनों के समान है जिन पर रेलगाड़ी की खिड़की से हमारी दृष्टि पड़ती है। कथात्मकता उन झाड़े-झंखाड़ और रोड़े-कंकड़ के समान है जो हमारी आंखों के आगे से अग्रभूमि में तेजी से गुजरते हैं।"[2]

१. "The planned frame work of a literary selection."
—Harry Shaw, 'A Dictionary of Literary Terms.'

२. "The plot, then, is like the trees and houses that we focus our eyes on through a train window : the narrative is more like the weeds and stones that rush by in the foreground."

अन्य नये कहानीकारों की तरह रेणु ने भी प्लाटवादी कहानियां बहुत कम लिखी हैं। किन्तु उनकी प्रायः सभी कहानियों में उपरोक्त कथात्मकता अनेक प्रसंगों, उपाख्यानों, वृत्तान्तों और मिथकों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस कथात्मकता का, जिसे डॉ० नामवर सिंह ने कहानीपन की संज्ञा दी है, कहानी में वही स्थान है जो स्थान कविता में लय का है।' सच तो यह है कि छोटे-छोटे प्रसंगों तथा विवरणों से निर्मित यह कथात्मकता रेणु की कहानियों को एक लय भी प्रदान करती है।

रेणु की कुछेक कहानियों की संरचना की परीक्षा से लेखक की कथात्मक-पद्धति को सहज ही पहचाना जा सकता है। वे किसी व्यक्ति, या किन्हीं व्यक्तियों के जीवन से संबंधित प्रसंगों को काट-कूट कर तथा उनके ऊपरी कार्यकारण संबंध को तोड़कर उन्हें भाव-साहचर्य या अन्य किसी सूत्र के सहारे फिर से जोड़-कर एक 'स्ट्रक्चर' खड़ा करते हैं। 'तीन बिंदियां' कहानी की गीताली के विषय में यह लिखकर कि "इस जिन्दगी के कुछ अंश को काट लेती है, गीताली टुकड़े-टुकड़े करती है, मसल डालती है। फिर, चूर्ण-विचूर्ण क्षणों की सुर-कणिकाओं को सहायक नाद की सहायता से परखती है"[२], रेणु मानो अपनी इसी पद्धति की ओर संकेत करते हैं। सहायक नाद से रेणु का क्या तात्पर्य है, इसकी चर्चा आगे की जायगी। यहां उनकी कथात्मक संरचना को उनकी कुछ कहानियों के संदर्भ में देखने का प्रयत्न किया जायगा।

'रसप्रिया' रेणु के प्रथम कहानी-संग्रह 'ठुमरी' की पहली कहानी है। बूढ़े पंचकौड़ी मिरदंगिया का चरवाहे बालक मोहना की अपूर्व सुन्दरता को देखकर आश्चर्यचकित हो जाना ही वह बिन्दु है जिससे इस कहानी का आरंभ होता है। मोहना पंचकौड़ी मिरदंगिया से यह पूछकर कि क्या उसकी उंगली रसप्रिया बजाते टेढ़ी हुई है, मानो उसकी दुखती रग को छेड़ता है। बूढ़े मिरदंगिया के साथ-साथ पाठक भी यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि मोहना से यह बात किसने कही? मोहना कौन है? पंचकौड़ी कौन है? वह व्यक्ति कौन है जिसने मोहना से मिरदंगिया की उंगली टेढ़ी होने की बात कही है? उंगली टेढ़ी होने का असली रहस्य क्या है? ये प्रश्न पाठक के मन में अनेक जिज्ञासाएं उत्पन्न करते हैं। यद्यपि

—Northrop Frye, 'Myth, Fiction and Displacement', in William J. Handy and Max West-brook, ed. Twentieth Century Criticism; The Major Statements (Indian Edition, 1976), p. 157.

१. कहानी : नयी कहानी, पृ० ३०

२. ठुमरी (राजकमल प्रकाशन, पंचम आवृत्ति, १९५७), पृ० १७८

कथा में इन सभी प्रश्नों के समाधान, या कम-से-कम इस हेतु कुछ संकेत मौजूद हैं, फिर भी लेखक का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार की जिज्ञासाओं को शान्त करना नहीं है। उन्होंने इन पात्रों के जीवन के विभिन्न प्रसंगों, इनके विषय में फैली अफवाहों तथा इनके परिवेश से संबंधित अनेक वृत्तान्तों को जाहिरी तौर पर बेतरतीबी से प्रस्तुत किया है जिससे एक मानवीय स्थिति अपने अनेक आयामों में मूर्तिमान हो जाती है। मोहना उसी रमपतिया का बेटा है जिसे पंचकौड़ी किन्हीं कारणों से अपनी नहीं कर सका था। मोहना जैसा बेटा पाकर रमपतिया 'महारानी' है, यह एहसास मानो उसे अपने अपराध-बोध से मुक्त करता है। वह मन में निश्चय करता है कि अब वह रसप्रिया नहीं, निर्गुण गायेगा—'रसप्रिया' का मुख्य कथा-सूत्र यही है। परन्तु कहानी की समग्र-संरचना में इसका महत्त्व यत्र-तत्र बिखरे लघु प्रसंगों अथवा उपाख्यानों, यथा परमानपुर में एक ब्राह्मण के लड़के को बेटा कहने पर पंचकौड़ी की मार-पिटाई होना, कमलपुर के नन्दू बाबू के यहां उसे दो जून भोजन और चार मीठी बातें नसीब होना, शोभा मिसिर के छोटे लड़के का उसे बेपानी करना, मिरदंगिया का पुराने दिनों के प्रति 'नास्टैलजिया' और यह पीड़ा कि क्या कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जायगी, लोक-गीत की कड़ी, जिसमें खेतों में काम करने वाले हलवाहों और मजदूरों से कोई बिरही पूछता है कि किसी ने उसकी रूठी हुई धनी को तो नहीं देखा, गुलाबबाग मेले में मिरदंगिया की रमपतिया से भेंट और कमलपुर के नन्दू बाबू का नाम लेकर उसका उस पर लांछन लगाना, मोहना का नन्दू बाबू के यहां नौकरी करना और उसकी बड़ी-बड़ी आंखों का नन्दू बाबू की आंखों जैसी होना तथा आकाश में उड़ने वाली चील के मोटिफ आदि से अधिक नहीं है। यही प्रसंग और उपाख्यान अन्यथा भावुकतापूर्ण कथा को समाज-सापेक्षता और परिणामस्वरूप अर्थ प्रदान करते हैं।

'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' रेणु की कदाचित सर्वाधिक चर्चित कहानी है। कहानी का आरंभिक बिन्दु है एक छोटा-सा वाक्य—"हिरामन गाड़ी-वान की पीठ में गुदगुदी लगती है।" इस वाक्य के तुरन्त बाद ही कहानी में फ्लैश बैक के द्वारा हिरामन की पहली दो कसमों से संबंधित घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन मिलता है और तब हिरामन की पीठ में गुदगुदी लगने का ठहरा हुआ बिन्दु फिर से हरकत करने लगता है। परन्तु जिस पथ पर वह आगे बढ़ता है वह कोई सरल रेखा न होकर एक अनियमित और वक्र रेखा है। हिरामन और हीराबाई की परस्पर स्निग्धता और आकर्षण से चलकर यह कथा-बिन्दु अनेक बिखरे-छिटके प्रसंगों से गुजर कर कथा के अन्त में अलगाव की नियति तक पहुंचता है। ये बिखरे-छिटके प्रसंग हैं—हीराबाई की नजाकत और नफासत के मुकाबले में चालीस साल के हट्टे-कट्टे काले-कलूटे देहाती नौजवान हिरामन का उजड्ड पूर्व-

वृत्तान्त, हिरामन की गप्पबाजी, नामलगर ड्योढ़ी के राजा की कहानी जिसके घर 'देवता' ने जन्म लिया था और जिसे लाट साहब भी नहीं, सिर्फ़ लाटनी पहचान सकी थी, घोड़लद्दे बनियों के साथ हिरामन का मजाक, गांव के बच्चों का गाड़ी देखकर रटे अन्दाज में 'लाली लाली डोलिया में लाली रे दुलहिनियां' गाना और हिरामन का दिवा-स्वप्न कि वह सचमुच दुलहिन लेकर लौट रहा है, महुआ घटवारिन का गीत जो कहानी को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करता है, हिरामन के साथी गाड़ीवानों के किस्से, लालमोहर का हीराबाई से कचराही बोली में बात करके यह जताना कि वह हिरामन से अधिक 'पावर' वाला आदमी है, दास वैस्नव पलटदास जिसे नौटंकी की दास्तान 'रमैन' की ही बात और गुल-बदन बनी हीराबाई सिया सुकुमारी दिखाई देती है, लहसनवां का, जिसे सबसे अच्छा जोकर का पार्ट लगा था, हीराबाई की साड़ी धोकर अपने को भाग्यशाली समझना, इन लोगों का अन्य तमाशबीनों के साथ झगड़ा, इत्यादि-इत्यादि। ये सारे छोटे-छोटे प्रसंग और वृत्तान्त कहानी की संरचना के महत्वपूर्ण घटक हैं और मुख्य कथा की सतह से नीचे जाकर उसे गहराई प्रदान करते हैं।

'हाथ का जस, बाक का सत्त', 'विघटन के क्षण', 'अच्छे आदमी' आदि कहानियों की संरचना भी इस प्रकार विविध प्रसंगों और उपाख्यानों को जोड़कर खड़ी की गई है। 'तबे एकला चलो रे' यद्यपि एक 'ड्रामेटिक मोनोलॉग' है, फिर भी उसमें किसी प्रकार की नाटकीय प्रत्यक्षता नहीं, जीवन के लघु प्रसंगों का बिखराव मिलता है। 'एक आदिम रात्रि की महक' में करमा की आदिम तृषा की कहानी ही नहीं, बीसियों पात्रों के बीसियों किस्से भी मिलते हैं। संरचना की दृष्टि से 'रेखाएं : वृत्तचक्र' भी रेणु की उल्लेखनीय कहानी है। इसमें न केवल विभिन्न व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न प्रसंगों का संगुम्फन मिलता है, अपितु अनुभूत वर्तमान के साथ-साथ भोगे हुए अतीत तथा सम्मूर्च्छा की स्थिति में स्वप्न आदि के रूप में देखे गये अनागत का भी कलात्मक रचाव दृष्टिगोचर होता है। रेणु की कहानियों में बिखरे ये विभिन्न प्रसंग और विवरण उनके प्रभाव की एकान्विति में कोई बाधा नहीं डालते; बल्कि ये उसे और भी संश्लिष्ट और तीव्र बनाते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि रेणु के बाद की कहानियों में, विशेषकर 'अगिन-खोर' संग्रह की कहानियों में, इस तरह की कोई जटिल संरचना नहीं मिलती है। ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपनी कथा-भूमि से कट जाने के कारण न केवल उन्हें वर्ण्य-विषय का टोटा पड़ा था, बल्कि उनकी शिल्प-चेतना भी कुछ मंद पड़ गयी थी। 'अगिनखोर' की अधिकांश कहानियां रचनात्मक दबाव की अपेक्षा किसी व्यावसायिक मांग को पूरा करने के लिए लिखी गई लगती हैं। 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम', 'लाल पान की बेगम', 'एक आदिम रात्रि की महक' क रचनाकार की लेखनी से निःसृत 'काक चरित', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'जैव', 'अकल और भैंस' जैसी चुस्त-दुरुस्त, सीधी रेखा में चलने वाली 'शास्त्रीय' तथा एकायामी कहानियों को पढ़कर आश्चर्य ही नहीं, दुःख भी होता है।

मुख्य नाद : सहायक नाद

फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-शिल्प को उनकी कहानी 'तीन बिंदियां' के आलोक में भली-भांति समझा जा सकता है। 'तीन बिंदियां' ठुमरी गायिका गीताली की कहानी है। गीताली की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि उसने अपनी बड़ी बहन विशुद्ध (?) ठुमरी गायिका मीताली की गलतियों से लाभ उठाया है, बहुत कुछ सीखा है। इस सफलता का रहस्य, अर्थात् मीताली की गलतियों से मिलने वाली शिक्षा का मूलमन्त्र है सहायक नाद की महिमा। कहानी में गीताली के इस 'सहायक नाद' की व्याख्या कुछ इस प्रकार की गयी है—"... सहायक नाद ! जिसको ओवरटोन कहते हैं। नाद कभी अकेला उत्पन्न नहीं होता। उसके साथ-साथ अन्य नादों का भी जन्म होता है। उस स्वर को हम सुन पाएं अथवा नहीं, मूल नाद से उत्पन्न होने वाले इन नादों को सहायक नाद कहा जाता है। स्वयं ही जन्म लेने के कारण इन्हें स्वयंभू स्वर भी कहते हैं। गीताली ने इन्हीं स्वरों की सहायता से सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त की है; प्रार्थना के सुर में हरदम बजती हुई जिन्दगी के सुर-ताल की सीमा से बाहर नहीं गई। सीमा को विस्तृत अवश्य किया उसने।"[1]

गीताली की तरह ही रेणु ने भी इन सहायक नादों की महिमा को पहचाना था। उन्हें यह शास्त्रीय सिद्धान्त मान्य नहीं था कि कहानी जीवन के किसी एक पक्ष की ही झांकी प्रस्तुत करती है। वे जानते थे कि जीवन का कोई भी पक्ष जीवन के अन्य पक्षों से निरपेक्ष नहीं होता है। कोई भी प्रसंग अपने में पूर्ण, स्वतंत्र, अथवा अन्य प्रसंगों से असम्पृक्त नहीं होता है। जीवन के सभी प्रसंग एक-दूसरे के पूरक होते हैं। अतः उन्होंने कहानी-लेखन में उसी पद्धति का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग उनकी कथा-नायिका गीताली अपनी संगीत-साधना में करती थी। 'तीन बिंदियां' में इस पद्धति के विषय में रेणु का कहना है—"इस जिन्दगी के कुछ अंश को काट लेती है, गीताली, टुकड़े-टुकड़े करती है, मसल डालती है। फिर, चूर्ण-विचूर्ण क्षणों की सुर-कणिकाओं को सहायक नाद की सहायता से परखती है। डाट-डाट-डाट। गीताली इन नन्ही-नन्ही तीन बिंदियों को, आंखों के सामने शून्य में उभरने वाली छोटी-छोटी तारिकाओं को, अब अच्छी निगाह से देखती है; पहचानती है इस शुभ चिह्न को !..."[2]

---

१. ठुमरी, पृ० १५७-५८

२. वही, पृ० १५८

रेणु अपनी कहानियों में असम्पृक्तता का आभास देने वाले प्रसंगों, संवेदों, अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों को डाट-डाट-डाट (…), अर्थात् इन्हीं तीन बिंदियों से परस्पर जोड़ते हैं। उन्हें यह एहसास था कि "साधारण पाठक अधिकांश ऐसी बिंदी-बूटेदार रचनाओं को भली नजर से नहीं देखते। सारी किताब में, पृष्ठ और पंक्ति में यत्र-तत्र सरसों के दाने की तरह बिखरी हुई बिंदियों के बाहुल्य से पाठकों की आंखें किरकिराने लगती हैं।"[1] परन्तु गीताली जो 'तीन बिंदियां' कहानी की मुख्य-पात्र ही नहीं, रेणु की मुखपात्र भी है, इन बिंदियों का रहस्य और इनकी शक्ति भली-भांति पहचानती है—"तीन बिंदियों के सहारे अप्रासंगिक प्रसंगों और असंलग्न मुहूर्तों को रूपायित करने वाले, किसी अन्य जगत् की हलकी छवि दिखाने वाले, प्याज के छिलके उतारने वाले, ऐसे किसी शब्द-शिल्पी से कभी भेंट हो तो गीताली कहेगी—मानो या न मानो; हैं ये सहायक नाद के चिह्न। पूछेगी, रस ओवरटोन या सहायक नादों की सृष्टि स्वयं ही नहीं होती क्या! मन की अनगिन खिड़कियों से झांकने वाले चेहरे खुद नहीं बोलते क्या?…बात बोलेगी, मैं नहीं। राज खोलेगी बात ही।…किसी शिल्पी का जवाब गीताली के मन-वन में कौन पाखी रट रहा है!…"[2]

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, रेणु की कहानियों में इन सहायक नादों का महत्त्व मुख्य नाद से कम नहीं है। 'तीर्थोदक' कहानी में मुख्य नाद है लल्लू की मां का पति और पुत्रों से कोई प्रोत्साहन न पाने के बावजूद तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ना। इस मुख्य नाद के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले सहायक नाद हैं—लल्लू की मां की मोतिया की मां के प्रति उमड़ी आत्मीयता; बड़े बेटे शंकर का (लल्लू की मां के अनुसार) अपनी बीबी को डॉक्टर से जांच कराने के बहाने 'अटना-पटना, इल्ली-दिल्ली दिखला लाना; मंझले बेटे विष्णु का (लल्लू के पिता के अनुसार) अपनी बहन को साथ लाने में लाज अनुभव करना और कॉलेज से नागा करके भैया की साली को मुंगेर से जमालपुर पहुंचाना; रेलगाड़ी में घूटर साह की बूढ़ी का लोटा खो जाना और फलस्वरूप साह और सहुआइन में 'ठण्डी लड़ाई' चलना और तब कुछ समय बाद खंखड़ ओझा का कान पर से जनेऊ उतारते हुए लोटा लेकर टट्टी से निकलना; शशिकान्त की पत्नी की व्यथा-कथा, उसका अघोरी बाबा के पास जाना और वहां से लौटकर डोमन की मां के साथ झगड़ना; बिना मां की बेटी अन्नपूर्णा का यात्रियों की सेवा करना आदि उपाख्यान और इनसे जुड़े बहुत सारे प्रसंग। इसी प्रकार 'कस्बे की लड़की' में सरोज के देहात से हजारीबाग शहर आकर प्रियव्रत के साथ घूमने के मुख्य नाद के साथ-

१. ठुमरी, पृ० १५६
२. वही

साथ बीसियों सहायक नाद भी कहानी के पृष्ठों पर उभरते हैं जिनमें से कुछ हैं—प्रियव्रत की भतीजी बूंदी की हरकतें; प्रियव्रत की भाभी की आध दर्जन बहनों का उनके यहां खाली हाथ आना और खाने-पीने में नखरे करना; भाभी का सरोज पर झूठी तोहमत लगाना पर सोने की सिकरी का भाभी के बक्से से ही निकलना; राम निहोरा प्रसाद का बिना कारण सरोज की पीठ पर मुक्के मारना; राम भाई (जिनका नाम सरोज श्रद्धा से बार-बार लेती है) और उनका आकर्षक व्यक्तित्व के अभाव में असफल जीवन; रिक्शेवाले या मुखर्जी परिवार की सुन्दरियों का सरोज की सांवली स्थूल काया को लक्ष्य करके हंसना, प्रियव्रत का खेल-खेल में 'लाजवन्ती लता' को छड़ी की मार से सुला देना तथा ऐसे ही अनेकानेक प्रसंग। ये सहायक नाद रेणु की कहानियों की मुख्य कथा के अस्थिपंजर में रक्त-मांस ही नहीं भरते, उसमें प्राणों का भी संचार करते हैं। रेणु समग्र कथा-स्थिति को किन्हीं पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के विश्लेषण द्वारा नहीं, अपितु रोजमर्रा के परिचित पात्रों और जीवन की सामान्य स्थितियों के सहारे उभारते हैं। जैसा कि नाक्स सी० हिल की मान्यता है, इस प्रकार की लेखन पद्धति कृति की पठनीयता ही नहीं, उसकी नाटकीयता भी बढ़ाती है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपरी तौर पर दीखने वाले ढीलेपन के बावजूद रेणु की कहानियों में यह नाटकीयता और कसाव पर्याप्त मात्रा में है। दूसरी ओर अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये अप्रासंगिक व्यक्ति-प्रसंग कहानी के पात्रों को उनके परिवेश से जोड़ते हैं जिस कारण रेणु की कहानियां, किन्हीं व्यक्तियों की नहीं, एक समष्टि की कहानियां बनकर हमारे सामने आती हैं।

ठुमरी-धर्मा कहानियां

फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने प्रथम कहानी-संग्रह का नाम 'ठुमरी' रखा है,

१. "When, for example, the characters and situations in a piece of literature seem to be as vividly presented to us as the persons and situation of our everyday experience (and this could result from a mode of presentation which does not reveal innermost thoughts and feelings) we may almost lose ourselves in the work. When we do this, our reaction, to the work are immediate and the work tends to become dramatic."
—Knox C. Hill, 'Interpreting Literature' (University of Chicago Press, 1966), p. 93.

यद्यपि उसमें 'ठुमरी' नाम की कोई कहानी नहीं है। शब्दकोशों के अनुसार ठुमरी एक चलता गाना है जिसमें कई रागों का मिश्रण हो। यह कई हलके रागों और तरह-तरह की धुनों में गाई जाती है। रेणु की कहानियों में अनेक कथाओं, उप-कथाओं, परिकथाओं, उपाख्यानों, अफवाहों, विविध प्रसंगों, नाना प्रकार के अप्रासंगिक विवरणों का ही नहीं, रूप, रस, गंध और नाद का भी मिश्रण मिलता है। इसलिए रेणु ने इन्हें 'ठुमरी-धर्मा कहानियां'[1] और डॉ० नामवर सिंह ने 'मिश्रित शिल्प की कहानियां'[2] कहा है। ठुमरी कभी 'शुद्ध' नहीं हो सकती। चाहे कथा-साहित्य हो या संगीत-साधना, जो 'विशुद्ध' ठुमरी गाने की कुचेष्टा करेगा, उसकी नियति गीताली की बहन मीताली की खंडित कला-साधना से भिन्न नहीं हो सकती। जो कथाकार अपने कथ्य को 'शुद्धता' की मुट्ठी में कसने की कोशिश करेगा, उसकी कहानी का सारा कथा-रस निचुड़कर कसी मुट्ठी की उंगलियों से बह जायगा और शेष केवल छूंछ रह जायगा। कहानी ही नहीं, कोई भी साहित्यिक विधा या कला शुद्ध नहीं हो सकती। विभिन्न साहित्य-रूपों और कलाओं में परस्पर विनिमय होता रहा है और होना ही चाहिए। जैसा कि डॉ० नामवर सिंह ने कहा है, इस विनिमय से बेशक वे लोग परेशान होंगे जिनके लिए हर विधा एक ईश्वर-प्रदत्त (?) चौखटा है।[3] इस 'शुद्धता' को अस्वीकार करने के कारण ही रेणु की कहानियों में स्ट्रक्चर के स्तर पर रिपोर्ताज, रेखाचित्र, ध्वनि रूपक, फिल्मी दृश्य-लेख, पुराण-कथा, लोकगीत, लोकवार्ता, गपबाजी आदि का, तथा टेक्स्चर के स्तर पर रूप, रस, नाद और गंध का मिश्रण मिलता है। रेणु 'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह ही 'गप रसाने का भेद जानता है'। उनकी लोकरस से ओत-प्रोत कहानियां चुस्त-दुरुस्त कहानियों की तरह किसी 'पैटर्न' का निर्माण करने की अपेक्षा एक 'रिद्म' (लय) का सृजन करती हैं। और, जैसा कि ई० एम० फास्टर का मत है, कला की दृष्टि से 'रिद्म' 'पैटर्न' से ऊंची उपलब्धि है।[4]

फणीश्वरनाथ रेणु ने उपन्यास और कहानियां ही नहीं, रिपोर्ताज भी लिखे हैं। बिहार के सूखे और बाढ़ तथा नेपाल की सशस्त्र क्रान्ति के विषय में उनके रिपोर्ताज उनके मरणोपरान्त 'ऋणजल : धनजल' तथा 'नेपाली क्रान्ति-कथा' नाम से पुस्तकाकार छपे हैं। रेणु ने कुछ कहानियों में भी रिपोर्ताज की शैली को

१. ठुमरी (स्वर लिपि)
२. कहानी : नयी कहानी, पृ० ५७
३. वही।
४. E. M. Forster, Aspect of the Novel (Pelican 1976) Chapter on 'Pattern and Rhythm.'

ही अपनाया है। 'ठुमरी' संग्रह की 'तीर्थोदक' तथा 'आदिम रात्रि की महक' संग्रह की 'पुरानी कहानी : नया पाठ' और 'ना जाने केहि वेश में' कहानियां एक प्रकार से रिपोर्ताज ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि इनके पात्र और स्थितियां वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं। या कौन कह सकता है कि वे स्थितियां और पात्र वास्तविक नहीं? रेणु के विषय में उनकी पत्नी श्रीमती लतिका का ही नहीं, अन्य लोगों का भी कहना है कि वे कहानी-उपन्यास में वास्तविक व्यक्तियों को ही, कहीं नाम बदलकर और कहीं बिना नाम बदले, कथाबद्ध करते थे।[1] दूसरी ओर रेणु के जिन रिपोर्ताजों के विषय में साधारणतः यह माना जाता है कि वे सच्ची घटनाओं पर आधारित हैं, उनके विषय में भी कुछ लोगों ने शंका उठाई है कि वे वास्तविक घटनाओं का 'आंखों देखा हाल' न होकर मात्र काल्पनिक रिपोर्टिंग है।[2] उपरोक्त तीन कहानियों में यदि कथा में रिपोर्ताज का मिश्रण मिलता है तो 'एक अकहानी का सुपात्र' में कथा के साथ रेखाचित्र का मिश्रण मिलता है।

'पुरानी कहानी : नया पाठ' में रेणु ने प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिए कथा-शिल्प में रेडियो और फिल्म टेकनीक का भी समावेश किया है। बाढ़ के कारण बस्ती में पानी भर आया है। लोगों ने घरों की छतों पर आश्रय लिया है। उनमें खलबली मची है। सभी अपनी जान बचाना चाहते हैं। कोई अभागा छप्पर पर अपने को न संभाल पाने के कारण नीचे पानी में गिर पड़ता है। लोग रो रहे हैं। विलाप कर रहे हैं। छप्पर पर जगह पाने के लिए एक-दूसरे से झगड़ रहे हैं। बाढ़ के पानी में कभी किसी पशु की लाश बहकर आती है तो कभी कोई सांप नजर आता है। उधर कोसी की यह विनाश-लीला देखकर निरुपाय-असहाय लोग झांझ, मृदंग बजाकर कोसी मैया का वंदना-गीत गाते हैं और मृदंग की ताल पर ही गांव के एकमात्र पढ़ुआ पागल जनकवि नागार्जुन की कविता की आवृत्ति कर रहा है, 'ताता थैया, ताता थैया, नाचो नाचो कोसी मैया।" इस सारे हंगामे को मानो रेणु ने 'रिकार्ड' किया है और कहानी के निम्नलिखित अनुच्छेद में वे बिना कोई

१. लतिका रेणु, 'अब वह मरीज़ कभी दरवाज़ा खटखटाने नहीं आयेगा'
(रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित, पृ० १४२)
२. "लगभग दो साल पूर्व जब पटना की भयंकर बाढ़ पर रेणु की मर्मस्पर्शी रिपोर्ट 'आंखों देखा हाल' की तरह कई किस्तों में प्रकाशित हुई तो कुछ लोगों का कहना था कि उस बाढ़ के समय रेणु अपने गांव औहारी हिगना में थे, पटना में नहीं।"
—कुमार विमल का लेख 'रेणु की याद में' (मासिक 'नया प्रतीक', मार्च १९७८ अंक)

टीका टिप्पणी किए जैसे इसी रिकार्ड को फिर से बजाते हैं—

"माय गे-ए-ए-ए—बाबा हो-ओ-ओ-दुहा-ई-ई-संभल के-ले-ले गिरा-गिरा—छप्पर पर चढ़ जा—ए सुगनी-रे रमललवा-आ-आ दीदी ई-ई—हाय-हाय—माय गे—बाबा हो-ओ-ओ—हे इस्सर महादेव—ले-ले-गया-गया—डूबा-डूबा—आंगन में छाती भर पानी—यह छप्पर कमजोर है, यहां नहीं—यहां जगह नहीं—हे हे ले ले गिरा—भैंस का बच्चा बहा रे-ए-ए—ए डोमन—ए डोमन-सांप-सांप—जै गोरा पारबती—रस्सी कहां है—हंसिया दे—बाप रे बाप—ता-ता थैया ताता-थैया, नाचो नाचो कोसी मैया—छ-म-कटछम···!"[१]

इस अनुच्छेद में यदि सारे दृश्य को ध्वनिबद्ध किया गया है तो अगले अनुच्छेद में स्थिति से ध्वनि को पृथक करके उसका केवल चाक्षुष (विजुअल) रूप प्रस्तुत किया गया है। देखिए—

"भोर के मटमैले प्रकाश में ताड़ की फुनगी पर बैठे हुए वृद्ध गिद्ध ने देखा—दूर, बहुत दूर तक गेरुआ—पानी-पानी-पानी! बीच-बीच में टापुओं जैसे गांव-घर, घरों और पेड़ों पर बैठे हुए लोग। वह वहां एक भैंस की लाश। डूबे हुए पाट और मकई के पौधों की फुनगियों के उस पार···।

राजगिद्ध पांखें तोलता है—उड़ान भरता है। हहास!"[२]

पूर्वगामी अनुच्छेद में जहां रेडियो टेकनीक का उपयोग किया गया है वहां इस अनुच्छेद में पूरी तरह से फिल्म टेकनीक का आभास मिलता है। सबसे पहले, मानो, ताड़ की फुनगी पर बैठे हुए गिद्ध का 'क्लोज अप' दिया गया है। फिर जैसे कैमरा 'जूम आउट' करता है और 'लांग शाट' में दूर-दूर तक फैला पानी ही पानी नजर आता है। (पानी शब्द की आवृत्ति विचारणीय है।) इसके बाद मानो कैमरा 'जूम इन' करके धीरे-धीरे 'पैन' करता है और पानी के बीच टापुओं जैसे गांव घर, घरों और पेड़ों पर बैठे हुए लोग, डूबे हुए पाट और मकई के पौधों की फुनगियां, उनके पार भैंस की लाश, एक के बाद एक नजर आते हैं। तब, जैसे 'शाट' बदलता है। फिर उसी गिद्ध का 'क्लोज अप'। गिद्ध उड़ान भरता है और कैमरा जैसे उसे 'फालो' करता है। दृश्य-जगत् के प्रति रेणु की इस प्रकार की संवेदनशीलता देखते हुए नागार्जुन के एक अन्य संदर्भ में कहे गये ये शब्द बहुत ही सही मालूम होते हैं कि रेणु यदि "कलकत्ता जैसे महानगर में पैदा हुआ होता और यदि वैसा ही सांस्कृतिक परिवेश, तकनीकी उपलब्धियों का वही माहौल इस विलक्षण व्यक्ति को हासिल हुआ होता तो अनूठी कथा-कृतियों के रचयिता होने के साथ-साथ सत्यजित राय की तरह फिल्म-निर्माण की दिशा में भी यह व्यक्ति

१. आदिम रात्रि की महक (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली), पृ० ७३-७४
२. वही, पृ० ७४

अपना कीर्तिमान स्थापित कर दिखाता।"[१]

जैसा कि ऊपर कहा गया है फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियां मिश्रित शिल्प की कहानियां हैं। इनमें अन्य साहित्यिक विधाओं की शैलियों का ही नहीं, रेडियो और फिल्म टेकनीक का भी सहारा लिया गया है। परन्तु रेणु के इस मिश्रित शिल्प में जो बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और ध्यानाकर्षक है, वह है कथा और गीत का मिश्रण। 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'विघटन के क्षण' आदि कहानियों का प्रभाव कथा और गीत का मिला-जुला प्रभाव है। कथा में गीत का समावेश करने के लिए रेणु को कहानी का परम्परागत ढांचा तोड़ना पड़ा है। कथा-वर्णन की प्रचलित लीक छोड़नी पड़ी है। 'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह स्वयं रेणु को भी यह एहसास है कि प्रचलित लीक अर्थात् 'चालू रास्ते में कैसे गीत गा सकता है कोई?'[२]

कहानियों का टैक्स्चर : बिम्ब नाद गंध

कथा-शिल्प में संरचना या रूप-गठन (स्ट्रक्चर) का ही नहीं, कहानी के शब्द-गठन (टैक्स्चर) का भी महत्त्व है। रेणु ने जहां बहुत से प्रसंगों और उपाख्यानों को जोड़कर कहानियों की संरचना खड़ी की है, वहां विविध प्रकार के बिम्बों, शब्द-चित्रों, ध्वनिचित्रों, मिथकों आदि से उनका टेक्स्चर बुना है। अपनी कहानियों की सघन बुनावट में उन्होंने नाना प्रकार के रूप, रस, गंध, नाद, सुर, ताल, मुद्रा आदि का उपयोग किया है। उनकी प्रतिभा सबसे अधिक उनके द्वारा प्रयुक्त श्रव्य-बिम्बों या ध्वनि-चित्रों में झलकती है। रेणु की कहानियों के नाद-तत्त्व अर्थात् उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ श्रव्य-बिम्बों की परीक्षा, यहां अप्रासंगिक नहीं होगी।

'सिरपंचमी का सगुन' कहानी में कालू कमार अपने देनदार गृहस्थों का फाल गर्म करके हथौड़े से 'ठां-ठां-ठां ठुन्न ठां ठुन्न' करके पीटता है और फिर जब उसे कठौते में डालता है तो 'छुं-छुं-छुं-ऊं गुर्र-र्' की आवाज में गर्म फाल पानी में छनछना उठता है। कालू ने सिंघाय के जिस फाल को जान-बूझकर टेढ़ा किया था उसे गर्म करके रेलवे का जवान मिस्त्री अपने वजनदार हथौड़े से 'ठनांग-ठनांग-ठनांग' करके सीधा करता है। इसी कहानी में आगे चलकर जवान मिस्त्री के ललकारने पर सिंघाय अपनी सारी हिम्मत बटोरकर हथौड़ा चलाता है तो उसके तीन वार ठीक और चौथा वार गलत पड़ता है—'ए-ठांय! ए-ठांय! ए-ठांय! ए-ठ-र्रं क्!' और जवान मिस्त्री के हाथ से संडसी सहित लोहा

१. नागार्जुन, 'फणीश्वरनाथ रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित) पृ० १९-२०
२. ठुमरी, पृ० १२०

छूटकर छिटक जाता है और दाहिना पैर बाल-बाल बचता है। 'कस्बे की लड़की' कहानी में जब रिक्शा वाले उतराई में पैडिल चलाना बंद कर देते हैं तो बहुत देर तक 'फ्री व्हील' की करकराहट होती रहती है—'क्रिरि रि रि रि···' जिससे सरोज की सारी देह में गुदगुदी लगती है। 'हाथ का जस और बाक का सत्त' में वक्ता गाड़ीवान के मुंह से सुनता है कि जगू पंसारी ने बुढ़ापे में एक जवान 'तड़-तड़' पहाड़िन को घर में बैठा लिया है। 'तड़-तड़' का कोई अर्थ हो या न हो, इसकी ध्वनि से ही पहाड़िन के मांसल और कसे हुए अंगों से फूटने वाली जवानी मूर्तिमान हो जाती है। रेणु ध्वनि ही नहीं, सुर के विषय में भी काफी संवेदनशील और सचेत हैं। 'हाथ का जस···' में ही वक्ता कुसुमलाल गाड़ीवान से पूछता है कि क्या जगू पंसारी जिन्दा है तो रेणु के शब्दों में "कुसुमलाल ने सुर खींचकर एक शब्द में जवाब दिया—'है-ए-ए-ए!' जिसका अर्थ हुआ— हां, किसी तरह जी रहा है।"[1] 'तबे एकला चलो रे' में भैंस बथान में पड़े को न पाकर हुंकरती-डिकरती उसे पुकारती है—"पाड़ कहां आं आं!" और पलाती में बंधा पाड़ा जवाब देता है—"मैं यहां आं आं!" 'एक आदिम रात्रि की महक' में करमा रेलवे के अनेक बाबुओं की नाक से सोते समय निकलने वाले सुर को इन शब्दों में याद करता है—···"बाबू की नाक ठीक बबुआनी आवाज में ही 'डाकती' है··· पेट मान जी तो, लगता है, लकड़ी चीर रहे हैं!···गोपाल बाबू की नाक बीन जैसी बजती थी—सुर में!!···असगर बाबू का खर्राटा···सिंघ जी फफकारते थे और साहू बाबू नींद में बोलते थे···"ए, डाउन दो, गाड़ी छोड़ा···!"[2]

रेणु की कहानियों में नाद के साथ-साथ गंध के प्रति भी अति-संवेदनशीलता लक्षित होती है। 'तीन बिंदियां' कहानी में गीताली को मिस्त्री हाराधन यन्त्रकार सलाह देता है—"गीतों में गंध का परिवेशन कर सको, ऐसी साधना करो।"[3] रेणु ने स्वयं ऐसी साधना की थी। वे अपने कथा-गीतों में गंध का समावेश करने में समर्थ हुए थे। वे प्रायः हर प्रकार की गंध के प्रति जागरूक हैं, चाहे वह पहली वर्षा में भीगी हुई धरती के हरे-भरे पौधों से निकलने वाली खास किस्म की गंध हो (रसप्रिया) अथवा बुझते हुए लोहे की 'लोहाइन' गंध (सिरपंचमी का सगुन)। बाघ के शरीर से निकलने वाली 'बघाइन' गंध या गाड़ी में रह-रहकर महक उठने वाले चम्पा के फूल की खुशबू हो (तीसरी कसम)। कस्बे की लड़की के शरीर में लगे सस्ते और चालू पाउडर तथा बालों में पड़े आयुर्वेदिक तेल की गंध (कस्बे की लड़की) अथवा नये मकान में चूने और वार्निश की गंध (एक आदिम रात्रि की

१. 'हाथ का जस···' (बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना, १९६२), पृ० १२१
२. 'आदिम रात्रि की महक', पृ० ४३
३. ठुमरी, पृ० १७०-७१

महक), एक मुस्लिम परिवार में भुने हुए प्याज की बू (जलवा) या हवा में नव-वधुओं की सूखती लहराती लाल, गुलाबी, पीली चुनरियों की मादक गंध (पुरानी कहानी : नया पाठ)। महानारायण तेल मालिश की उबकाई लाने वाली गंध (काक् चरित) अथवा जिल्दसाजी की दुकान में लेई की गंध जिससे दिमाग फट जाता है (आज़ाद परिन्दे)। कई दिन बंद पड़े कमरे से निकलने वाली 'गुमी हुई' गंध या पीतल की चमचमाती हुई थाली में भात डालते समय भाप की महक (आत्म-साक्षी)। कहीं-कहीं तो रेणु की यह गंध-चेतना बहुत ही सूक्ष्म रूप में हमारे सामने आती है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का करमा—जिसे जन्म के कुछ घंटे बाद ही मालगाड़ी के डिब्बे में 'बिना बिलटी रसीद' के 'लावारिस माल' के रूप में पाया गया था, जिसकी जवानी रेलगाड़ियों में रिलीफिया बाबुओं के साथ भटकते बीती है—जब अपने बेसहारा भटकते जीवन से कुछ क्षण चुराकर स्टेशन के पास के एक गांव में प्रवेश करता है तो 'गांव की पहली गंध का पहला झोंका' उसके लिए एक अभूतपूर्व अनुभूति बन जाता है। 'संवदिया' कहानी का हरगोबिन संवदिया अपने कार्य में इतना दक्ष है कि वह वातावरण को सूंघकर ही संवाद का अन्दाजा लगाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रेणु का कथा-जगत् नाना ध्वनियों, सुरों, गीतों से निनादित ही नहीं, भांति-भांति की गंधों से महकता भी है। वास्तव में रेणु ने अपनी कथा स्थितियों को बहुआयामी मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया है। उसके लिए उन्होंने यथासम्भव सभी कलाओं के समस्त उपकरणों तथा ऐन्द्रिय-बोध के विविध स्रोतों का सहारा लिया है। नाद, सुर, गंध ही नहीं, उन्होंने जैसे अभिनय कला से भी मुद्राएं और मूर्च्छता (माड्यूलेशन ऑफ वाइस) लेकर अपनी कहानियों का टेक्स्चर बुना है। वे पात्रों की भंगिमाओं और मुखमुद्रा का सूक्ष्म विवरण देते हैं। 'तीर्थोदक' कहानी में "विष्णु की बोली, मंजन के झाग से भरे हुए मुंह में गुड़गुड़ाई। मुंह ऊंचा करके उसने कहा—मैं ड-ड-वा! फिर ओसारे के बगल में झाग उगलकर बोला—दूसरे से कर्ज लेकर तुम्हारी चीज ला दी है। रुपया देती जाओ। आज ही मनीऑर्डर से भेज दूंगा। दूसरे का रुपया···"[1] इसी कहानी का एक और पात्र खंखड़ ओझा जानता है कि कौन-सी मुख-मुद्रा शिष्टाचार हेतु कही गयी उसकी बात को रद्द करके उसके अभीष्ट अर्थ का संकेत दे सकती है। पण्डाइन चाहती है कि यात्रियों में जितनी स्त्रियां हैं, वे ऊपर बरांडे पर आयें। खंखड़ जाहिरी तौर पर उसकी बात का समर्थन करते हुए भी दांत निपोरकर लल्लू की मां को पण्डाइन की चालाकी के प्रति सावधान करता है। देखिए यह प्रसंग—"खंखड़ ने लल्लू की मां की ओर दांत निपोरकर देखते हुए, धीरे से कहा—जैसी मर्जी आप लोगों की। सबके साथ नीचे रहिए, यह भी

१. ठुमरी, पृ० २६

अच्छा। चाहे, नवोजनि ऊपर जाइए, यह भी अच्छा।

दिन का समय होता तो आंख की कनखी से लल्लू की मां को सचेत कर देता—ऊपर नहीं। किन्तु रात को धुआंकस लालटेन की रोशनी में वह दांत निपोरने के सिवा और क्या करे?"[1]

'ठेस' कहानी में ग्राम-शिल्पी सिरचन जब अपने काम में मगन होता है, तो एक कुशल अभिनेता की तरह ही "उसकी जीभ जरा बाहर निकल आती है, होंठ पर।"[2] 'सिरपंचमी का सगुन' में बूढ़े मिस्त्री की दिलचस्पी केवल दूधवाली, अर्थात् माधव की मां में थी। लेकिन एक दिन जब माधव की मां के बदले माधव का बाप आ टपकता है तो बूढ़े मिस्त्री का अचकचा जाना स्वाभाविक लगता है। वह अभिनय कला में प्रवीण व्यक्ति की तरह ही केवल स्वर-परिवर्तन से अपना मनोभाव प्रकट करता है और अप्रत्याशित आघात को 'इस्टैबलिश' करता है। देखिए—

" राम-राम मिस्त्री जी! मैं माधव का बाप हूं।"

"राम-रा···। माधो का बाप!" बूढ़े मिस्त्री ने सिंधाय को गौर से देखते हुए कहा। जवान मिस्त्री ने कहा—दूधवाली का घरवाला?"

"ओ-ओ! दूधवाली का घरवाला, टेढ़े फाल वाला?" बूढ़े मिस्त्री ने गा-गाकर कहा—"बैठो-बैठो, क्या नाम है तुम्हारा?"[3]

'उच्चाटन' कहानी में बिलसवा या रामबिलास 'डरामा' और एक्टिंग के 'जार्गन' में ही बोलता-सोचता है। दो साल के बाद घर लौटने पर उसने मन में निश्चय किया था कि वह साहूकार बूढ़े मिसर को खरी-खरी सुनाएगा। किन्तु सुबह-सुबह ही मिसर की आवाज सुनकर उसका निश्चय डगमगा जाता है। बिलसवा "डरामा में परदा उठने पर अचानक पार्ट भूल गया, मानो।"[4] आखिर वह साहस बटोर कर मिसर से दो-एक तेज बातें कह ही डालता है। उसका अनुमान था कि उसकी तेज बात सुनकर मिसर की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी। किन्तु ऐसा नहीं होता। मिसर उल्टा नरम पड़ जाता है। बिलसवा को लगता है कि "मिसर 'पाट' छोड़कर बेपाट की बात बतियाने लगा।"[5] फिर उसे एक पुराना प्रसंग याद आता है—"····पिछले साल, महेन्द्रपुर-मोहल्ला दुर्गापूजा के 'डरामा' में जुगल महतो पनवाड़ी ने इसी तरह खेला चौपट किया था। जल्लाद का 'पाट'

१. ठुमरी, पृ० ३७
२. वही, पृ० ५४
३. वही, पृ० ६७
४. आदिम रात्रि की महक, पृ० ६२
५. वही, पृ० ६५

लेकर उतरा और तलवार उठाकर मारते समय रटा हुआ 'पाट' ही भूल गया और बे पाट की बात बोलते-बोलते तलवार फेंककर रोने लगा।··· मिसर भी रोता है क्या? नहीं, नाक पोंछ रहा है।"[1]

इस सारी चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रेणु की कहानियां 'शुद्ध' नहीं, मिश्रित शिल्प की कहानियां हैं। इनमें अन्य साहित्यिक विधाओं तथा रेखा-चित्र, रिपोर्ताज, गीत आदि का ही मिश्रण नहीं, साहित्येतर कलाओं जैसे फिल्म, रेडियो, संगीत, अभिनय आदि की टेकनीक का भी समावेश मिलता है। इस दृष्टि से रेणु संसार के उन महान साहित्य-शिल्पियों में से एक हैं जिन्होंने, टीसिंग के शब्दों में, अपनी कला की सीमाओं का अतिक्रमण करके उसकी अन्य कलाओं के साथ सहजीविता की आवश्यकता अनुभव की है।[2]

मिथक और मोटीफ

'मिथक' अंग्रेजी के 'मिथ' शब्द के आधार पर बनाया गया एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग कई अर्थों में होता है। अरस्तु ने अपने काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) में 'मिथ' का प्रयोग कथानक या कथात्मक संरचना के लिए किया है और 'लोगोस' (ज्ञान) का व्यवहार इसके विलोम या प्रतिबिन्दु के रूप में किया है। मिथ का संबंध कथन या वर्णन से है, चिन्तन या दर्शन से नहीं। इसकी विशेषता इसकी तर्कहीनता और अनायासता में निहित है जो इसे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से पृथक करती है। आधुनिक साहित्य-समीक्षा में भी 'मिथक' शब्द का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है और यह धर्म, लोक-वार्ता, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण, ललितकला आदि की साझेदारी में एक व्यापक अर्थक्षेत्र की ओर संकेत करता है।[3] सत्रहवीं और अठारहवीं शती में 'मिथक' से बुरे अर्थ का ही

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० ६५
२. "Great artists in the field of literature also feel a need for going beyond the limits of their art and striving after a symbiosis with the other art."
—H.P.H. Teesing, 'Literature and the Other Arts : Some Remarks', cited by Steven Paul Scher in 'Notes Towards a Theory of Uerbal Music' (Comparative Literature, published by the University of Oregon, Eugene, Oregon, Vol. XXII, No. 2, Spring, 1970), P. 147.
३. Rene Wellek and Austin Warren, 'Theory of Literature', (Peregrine Books, 1976), P. 190.

द्योतन होता था—एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक कल्पित कथा, एक मिथ्या आख्यान। किन्तु अब इस शब्द के विषय में यह धारणा बदल गयी है। आज मिथक को काव्य की ही भांति वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य का प्रतिद्वंद्वी नहीं, उसका पूरक माना जाता है।[१]

आधुनिक काल में प्रतिरूपात्मक और तर्क-संगत कथा-संसार को रचने वाले लेखक भी इन मिथकों या लोक-कथाओं का उपयोग अपनी कृतियों की संरचना और शब्द-रचना दोनों में करते हैं। कहीं ये मिथक लेखक को एक बना-बनाया पैटर्न उपलब्ध करते हैं और वह अपनी रचनाशक्ति का प्रयोग इस पैटर्न को विस्तृत चित्रांकन द्वारा उभारने में ही करता है। कहीं ये मिथक वर्तमान स्थितियों को उनके आद्य-प्ररूपों (आर्किटाइप) से जोड़ते हैं और कहीं किसी खंडगत अनुभव को एक व्यापक अनुभव का अंग बनाते हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी कहानियों का कथ्य ही नहीं, कथ्य की अभिव्यक्ति के उपकरण भी लोक-जीवन से लिये हैं। कथ्य की सशक्त और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कहानियों में लोक-कथाओं और मिथकों का भी उपयोग किया है। रेणु के कथालोक और इस वास्तविक लोक के मध्य संबंध मूलतः, राबर्ट शोल्ज और राबर्ट केलाग के शब्दों में समाजशास्त्रीय प्रतिरूपात्मक (Sociological representational) है।[२] अर्थात् उन्होंने इस लोक की ही यथार्थ स्थितियों को उनके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने का प्रयत्न किया है। ऐसी कथा कृतियां अपनी प्रभावपूर्णता और नाटकीयता के बावजूद कभी-कभी एक-आयामी और सतही लगती हैं। कदाचित इसी खतरे से बचने के लिए रेणु ने 'दैनिक जीवन के रोचक प्रसंगों में लोक-कथाओं और मिथकों का समावेश किया है और इन्हें गहराई और व्यापकता देने की कोशिश की है।'

'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' हिरामन और हीराबाई के परस्पर आकर्षण और अलग होने की नियति की कहानी है। महुआ घटवारिन की अन्तर्कथा इनकी इस नियति को प्रतीकात्मक ढंग से रेखांकित करती है। कहानी के दोनों पात्र, हिरामन और हीराबाई इस मिथक के दर्द को अपने भीतर अनुभव करते हैं। 'महुआ घटवारिन' गाते-गाते हिरामन भावुक हो उठता है—"उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ और कोई बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं। उलटकर देखती भी नहीं। और वह थक गया है तैरते-तैरते।···

१. Rene Wellek and Austin Warren, Theory of Literature', (Peregrine Books, 1974), p. 191.

२. Robert Scholes and Robert Kellogg, 'The Nature of Narrative' (Oxford University Press, 1966), P. 98.

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ा दिया। खुद ही पकड़ में आ गई है। उसने महुआ को छू लिया है, पा लिया है, उसकी थकन दूर हो गई है। पन्द्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उलटी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया है। आनन्द के आंसू कोई रोक नहीं मानते।···"[१]

किन्तु यह हिरामन का भ्रम है, उसका दिवा-स्वप्न है। हीराबाई के रूप में अवतरित महुआ घटवारिन उसकी पकड़ में नहीं आती। कम्पनी की औरत कम्पनी में चली जाती है मगर जाते समय भरे गले से हिरामन से कहती है—"तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता?···महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरुजी।"[२] महुआ घटवारिन की कथा का दर्द आकर्षण में बंधे दो व्यक्तियों का ही दर्द नहीं, उसका एक सामाजिक संदर्भ भी है। सौदागर पूंजीवादी व्यवस्था के एकमात्र मूल्य उस धन का प्रतीक है जिसने प्रेम, सौंदर्य, भावना, त्याग, बलिदान आदि जीवन-मूल्यों को रद्द किया है।

कहानी में हिरामन द्वारा अपनी विशिष्ट शैली में वर्णित नामलंगर ड्योढ़ी का वृत्तान्त भी एक मिथक है। नामलंगर ड्योढ़ी के राजा के घर देवता ने जन्म लिया था, जिसे किसी ने नहीं पहचाना। देवता आखिर देवता है। एक बार लाट साहब मय लाटनी के हवागाड़ी से आये। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लाटनी ने। लेकिन फिर भी सभी ने बात हंसी में उड़ा दी। तब देवता का खेल शुरू हुआ। पहले दोनों दन्तार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर 'पटपटांग'···अर्थात् धन-दौलत, माल-मवेशी सब साफ···

यह ऊटपटांग किस्सा सुनाते समय हिरामन की मनोदशा के वर्णन से इस मिथक के अर्थ का आभास सहज ही मिलता है—"हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है, उसको लगता है।··· उसकी गाड़ी में देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है।"[३]

कहानी के अन्त में देवकुल की यह औरत, अर्थात् हीराबाई उसे छोड़कर चली जाती है तो उसके मन की सारी दौलत, सारा सुख-चैन अपने साथ ले जाती है।

रेणु की कहानियों में हमें समाज में प्रचलित विख्यात और अविख्यात दोनों प्रकार के मिथक मिलते हैं। 'पुरानी कहानी : नया पाठ' में बाढ़ के रूप में "मुंह बाये, विशाल मगरमच्छ की पीठ पर सवार दस-भुजा कोसीका नाचती, किलकती, अट्टहास करती आगे बढ़ रही है।"[४] 'नैना जोगिन' में रतनी का नैना जोगिन के

१. ठुमरी, पृ० १२२-२३।
२. वही, पृ० १३६।
३. वही, पृ० ११४।
४. आदिम रात्रि की महक, पृ० ७३।

रूप में नामकरण भी एक मिथक के आधार पर ही हुआ है—"देहात में झाड़-फूंक करने वाले ओझा गुणियों के हर 'मंतर' के अन्तिम आखर में बंधन लगाते हुए कहा जाता है—दुहाए इस्सर महादेव गौरा पारवती, नैना जोगिन···इत्यादि। लगता है कोई नैना जोगिन नाम की भैरवी ने इन मंत्रों को सिद्ध किया था।"[१] सचमुच रतनी की गालियां किसी भैरवी द्वारा सिद्ध किए गये मंत्रों से कम पैनी या मारक नहीं हैं।

रेणु के उपन्यासों-कहानियों में अनेक गांवों या घाटों के नाम किसी न किसी नये-पुराने मिथक के साथ जुड़े होते हैं। 'हाथ का जस और वाक् का सत्त' में भी पीलिया रोग और उसका इलाज करने वाले बैद के कारण ही नव टोली गांव का नाम हल्दिया गांव पड़ा—"नव टोली गांव का नाम ही बदल गया। गांव का नाम मशहूर हुआ—हल्दिया। अर्थात्—जहां हल्दिया यानी पियारी जैसे भीषण रोग को चुटकी बजाकर उड़ा देने वाला बैद आया है। हल्दिया बैद। हल्दिया गांव।"[२]

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों में मिलने वाले मिथकों के साथ-साथ उनके 'मोटीफ' (अभिप्राय) का अध्ययन भी उन्हें समझने में सहायक हो सकता है। किसी कृति का अथवा कृतिकार की अनेक कृतियों का प्रमुख या आवर्तक भाव अथवा विषय ही 'मोटीफ' कहलाता है। रेणु की कहानियों में कुछ बिम्ब, दृश्य, प्रसंग या विषय बार-बार आते हैं, जैसे मेला, नाच, रेल, रेलयात्रा आदि। मेला फणीश्वरनाथ रेणु का एक प्रिय मोटीफ है। उन्होंने अधिकतर ग्रामीण जीवन की कहानियां लिखी हैं और मेला ग्रामीण समाज की एक महत्त्वपूर्ण संस्था या प्रथा है। मेला एक संस्था ही नहीं, यह अस्थिर और परिवर्तनशील जीवन की गहमागहमी और रंगीनी का भी प्रतीक है। 'तीसरी कसम' में हिरामन और हीराबाई का मिलन मेले में ही होता है और हीराबाई के चले जाने के बाद ही यह मेला, वाच्यार्थ और प्रतीकार्थ दोनों दृष्टियों से, टूटता है। 'रसप्रिया' में रमपतिया के साथ विश्वासघात करने के काफी समय बाद पंचकौड़ी मिरदंगिया की उस अबला के साथ गुलाबबाग मेले में अचानक मुलाकात हो जाती है। पर मेला हर साल लगता है, गया समय बार-बार नहीं लौटता है। पंचकौड़ी निरुपाय और जिन्दगी के मेले में अकेला रहने के लिए विवश है। 'लाल पान की बेगम' में बिरजू की मां के पल-पल बदलते और परस्पर विरोधी मनोभावों के मूल में बलरामपुर मेले का नाच ही है।

रेणु की कहानियों में रेल और रेलयात्रा का मोटीफ भी मिलता है। यात्रा

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० १७५।
२. हाथ का जस···, पृ० १२५।

जीवन की निश्चलता और लक्ष्यहीनता में गति और लक्ष्य का आभास देती है। रेणु के अनेक पात्रों के मन में रेलगाड़ी में बैठकर तीर्थयात्रा की चाह बड़ी बलवती नजर आती है। 'तीर्थोदक' में लल्लू की मां पति-पुत्रों, घर-गृहस्थी का नेह छोड़कर इसी यात्रा के लिए रवाना हो जाती है। 'तीसरी कसम' के चालीस साल के हट्टे-कट्टे देहाती गाड़ीवान ने अपने मन से सभी इच्छाओं को, यहां तक कि शादी-ब्याह की इच्छा को भी बलपूर्वक बाहर निकाल फेंका है। परन्तु इस यात्रा की इच्छा को वह निकाल नहीं सका है। हीराबाई के चले जाने पर जब उसके लिए सारा संसार सूना हो जाता है तो यही एक इच्छा उसके जीने का अवलम्ब बनती है—"रेलवे लाइन की बगल से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झांकी, रेलगाड़ी पर सवार होकर, गीत गाते हुए जगरनाथ धाम जाने की लालसा···"[१] 'ना जाने केहि वेश में' की सारी कथा रेलगाड़ी में ही घटती है और एक रेलयात्री के वेश में ही वक्ता को भैरव सिंह 'भैरा' जैसे अद्भुत साहित्य-सेवी के दर्शन होते हैं।

रेलगाड़ी, रेलवे स्टेशन और रेलवे कर्मचारियों का जिक्र रेणु की कहानियों में बार-बार मिलता है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का कारण, जिसे जन्म से कुछ घंटे बाद ही मालगाड़ी के डिब्बे में 'बिना-बिलटी-रसीद' के 'लावारिस माल' के रूप में पाया गया था, जो रेलवे के रिलीफिया बाबुओं के साथ एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक भटकते-भटकते तंग आ गया है, कहानी के अन्त में चलती गाड़ी से कूदकर जीवन में कहीं जम जाना चाहता है। यहां रेलगाड़ी किसी लक्ष्य का नहीं, जीवन की लक्ष्यहीनता और भटकन का प्रतीक बन जाती है। रेणु की कहानियों में रेल उस औद्योगिक व्यवस्था का भी प्रतीक है जो देहात की सामन्ती समाज-व्यवस्था को धीरे-धीरे स्थानापन्न कर रही है। 'सिरपंचमी का सगुन' में गांव के लुहार कालू कमार द्वारा टेढ़े किए गये फाल को रेलवे का मिस्त्री एक-दो चोटों से ही सीधा करके प्रचलित लोकोक्ति के स्थान पर एक नयी उक्ति 'सौ चोट लुहार की तो एक चोट सरकार की' की सार्थकता को रेखांकित करता है।

रेणु की कहानियों में एक सुकुमार, सुदर्शना, सुशीला नारी का भी मोटीफ मिलता है जो कहीं 'तीर्थोदक' की अन्नपूर्णा, कहीं 'ठेस' की मानू, कहीं 'विघटन के क्षण' की विजया दी, तो कहीं 'संवदिया' की बड़ी बहू के रूप में पाठकों के सामने बार-बार आती है। 'जलवा' की फातिमा तथा 'तीसरी कसम' की हीराबाई भी ऐसी ही नारियां हैं। रेणु की कहानियों में बार-बार आने वाली यह नारी शरत् की नारी की प्रतिमूर्ति हैं जो स्वयं बहुत कुछ सहने के बावजूद दूसरों को

१. ठुमरी, पृ० १४०

प्यार और ममता बांटती हैं। दूसरी ओर एक अकेला अभागा पुरुष भी रेणु का प्रिय मोटीफ है जो कहीं 'रसप्रिया' के पंचकौड़ी मिरदंगिया, कहीं 'ठेस' के 'सिरचन', कहीं 'तीसरी कसम' के हिरामन तो कहीं 'एक आदिम रात्रि की महक' के करमा के रूप में हमारे सामने आता है। इन त्यागमयी ममतामयी नारियों तथा अकेले अभागे पुरुषों के योग से रेणु ने कुछ ऐसी कथा-स्थितियों की सृष्टि की है जिनके कारण कहीं-कहीं उनकी यथार्थवादी दृष्टि रोमानियत के कुहासे से धुंधली हुई लगती है।

खेतों में चुगते अथवा तारों पर चहचहाते पक्षियों का चित्रण रेणु प्रायः बहुत ही आत्मीयता और लगाव के साथ करते हैं और उनकी चहक में जीवन की छोटी-छोटी खुशियों की अनुगूंज अनुभव करते हैं। परन्तु उनकी कहानियों में चील सदा ही एक अनिष्टसूचक मोटीफ के रूप में आती है। 'रसप्रिया' में जब पंचकौड़ी मिरदंगिया इस बात का मातम मनाता है कि "अब तो दोपहरी नीरस करती है, मानो किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है" तो उसी समय "आसमान में चक्कर काटते हुए चील ने टिहंकारी भरी, टिं···ई टि ह क···" कहानी के एक अन्य स्थल पर मोहना जब पंचकौड़ी को पागल समझकर भाग खड़ा होता है तो "आसमान में उड़ती हुई चील ने फिर टिहंकारी भरी···टिं हीं···ई···टिं··टिं-ग!" 'विघटन के क्षण' कहानी में गांव उजड़ रहा है। सभी गांव छोड़कर शहर में जा बसना चाहते हैं और यही चील इस विघटनकारी शक्ति की प्रतीक बनकर आती है··· "अचानक एक चील ने डैना फड़फड़ाया। सभी चिरैया एक साथ भड़क कर उड़ीं।" यही चील 'एक आदिम रात्रि की महक' में अकेले करमा को पुकारती जाती है।

दृष्टिबिन्दु

दृष्टिबिन्दु की समस्या कथाशिल्प की बुनियादी समस्या है। वक्ता और कथा के मध्य संबंध ही वह आधार-शिला है जिस पर कथा की सारी संरचना खड़ी होती है। पर्सी लूबाक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि क्राफ्ट ऑफ फिशन' में दृष्टिबिन्दु की समस्या को कथा-शिल्प की केन्द्रीय समस्या मानकर इसकी विशद चर्चा की है। वक्ता कथा का वर्णन उसके बाहर या भीतर रहकर कर सकता है। और इन दोनों स्थितियों में वह अनेक प्रकार का दृष्टिबिन्दु अपनाकर अनेक कोणों से कथा को 'देख' सकता है। कथा-वर्णन की सर्वाधिक प्रचलित और परम्परागत परिपाटी वह है जब लेखक सर्वव्यापी सर्वज्ञ अन्य पुरुष का दृष्टिबिन्दु अपनाता है। ऐसी स्थिति में प्रायः लेखक स्वयं वक्ता होता है। वह न केवल पात्रों के बाहरी क्रिया-कलापों का, वरन् उनकी भीतरी आकांक्षाओं और उनके व्यवहार को परिचालित करने वाले गूढ़ प्रयोजनों का भी ज्ञाता होता है, तथा पाठकों को

भी अपने इस ज्ञान का सहभागी बनाने को तत्पर होता है। कहीं वक्ता स्वयं कथा के बाहर रहकर भी किसी एक पात्र का दृष्टिबिन्दु अपनाता है। वह सारी कथा को केवल उसी पात्र की आंखों से देखता है और जिन क्षेत्रों में उस पात्र की पहुंच नहीं होती है वहां वक्ता की भी पैठ नहीं होती है। कहीं कोई एक पात्र ही वक्ता बनकर उत्तम पुरुष के दृष्टिबिन्दु से कथा का वर्णन कहानी के भीतर से ही करता है। यह उत्तम पुरुष वक्ता या कहानी का 'मैं' विश्वसनीय भी हो सकता है और अविश्वसनीय भी। दृष्टिबिन्दु के निर्वाह की और भी बहुत-सी प्रविधियां हैं जिनका प्रयोग असंख्य कथाकारों ने अपनी असंख्य कृतियों में किया है। पर्सी लूबाक का आग्रह है कि कथाकृति में दृष्टिबिन्दु के सिद्धान्त का निर्वाह कट्टरता से होना चाहिए। कथाकार कोई भी दृष्टिबिन्दु अपना सकता है परन्तु पूरी कृति में उसी का समान रूप से निर्वाह होना चाहिए। किन्तु, जैसा कि ई० एम० फार्स्टर का मत है, डिकेन्स और टालस्टाय जैसे महान लेखकों ने दृष्टिबिन्दु की बदली (शिफ्ट) से या उपरोक्त प्रविधियों में से अनेक के मिश्रण से अपनी कृतियों को अधिक रोचकता और गहराई प्रदान की है।[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक सर्वज्ञ सर्वव्यापी अन्य पुरुष के दृष्टिबिन्दु से कथा वर्णन, कहानी कहने की परम्परागत और एक प्रकार से स्वाभाविक पद्धति है। रेणु ने अधिकांश कहानियों में मोटे तौर पर इसी पद्धति को अपनाया है। 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'लाल पान की बेगम', 'कस्बे की लड़की', 'टेबुल', 'एक आदिम रात्रि की महक' आदि कहानियों का वक्ता कथा के बाहर से ही उसका वर्णन करता है। दूसरी ओर लेखक की कई कहानियों में कोई पात्र ही वक्ता बनकर तथा उत्तम पुरुष का दृष्टिबिन्दु अपनाकर कथा के भीतर से ही कथा का वर्णन करता है। 'तबे एकला चलो रे', 'जलवा', 'अतिथि सत्कार', 'ना जाने केहि वेश में', 'अगिनखोर', 'रेखाएं : वृत्त चक्र' आदि ऐसी ही कहानियां हैं। अन्य पुरुष का दृष्टि बिन्दु कथाकार को बहुत सारे बंधनों से मुक्त करता है और वह पात्रों और कथा-स्थिति के बारे में कुछ भी कह सकता है। वह पात्रों के व्यवहार का ही नहीं, उनके मनोभावों का भी वर्णन कर सकता है। उन पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी भी कर सकता है। दूसरी ओर उत्तम पुरुष का दृष्टिबिन्दु लेखक पर अंकुश रखकर उसके युक्ति-चालन को सीमित कर देता है। फिर भी यह पद्धति कथा की नाटकीयता और वस्तुपरकता में वृद्धि करती है। दृष्टिबिन्दु के निर्वाह की और भी बहुत-सी पद्धतियां हैं और प्रत्येक की अपनी सम्भावनाएं और सीमाएं हैं। रेणु ने इन विभिन्न पद्धतियों की सम्भावनाओं का एक साथ उपयोग करने हेतु कहीं-कहीं एक ही कहानी में दृष्टिबिन्दु को अनेक

१. E.M. Forster, 'Aspects of the Novel', P. 186.

मुक्त किया। उन्होंने जिन लोगों की कहानियां लिखी हैं, उन्हीं की भाषा का यथासम्भव प्रयोग करने की कोशिश भी की है। मृत्यु से लगभग पांच वर्ष पूर्व मधुकर सिंह से बातचीत करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था कि गांव-गांव घूमकर ही उन्हें लोकभाषा की शक्ति को समझने का मौका मिला।[1] रेणु को 'शुद्ध', 'शिष्ट' और 'साहित्यिक' भाषा की मृत्यु का अहसास हो चुका था। इसी कारण, उनसे जहां तक हो सका, उन्होंने जीवन्त लोकभाषा से अपनी रचनाओं को प्राणवान बनाने की कोशिश की। 'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह उनका भी विश्वास था कि "कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है, दिल-खोल गप तो गांव की बोली में ही की जा सकती है किसी से।"[2]

रेणु की कहानियों और उपन्यासों की भाषिक भित्ति तो खड़ी बोली की ही है। संवादों या पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने स्थानीय ग्रामीण शब्दों तथा अंग्रेजी और उर्दू के बिगड़े हुए या तद्भव रूपों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। यदि यहां भी वे परिनिष्ठित भाषा प्रयुक्त करते तो कथा में 'यथार्थ का भ्रम' उत्पन्न नहीं होता और सारा वर्णन अस्वाभाविक और अयथार्थ दीखता। दूसरी ओर यदि वे मैथिली, मगही आदि स्थानीय बोलियों का उसी रूप में प्रयोग करते जैसा कि उनके कथांचल के लोग वास्तव में बोलते हैं तो उनकी भाषा हिन्दी के व्यापक पाठक समुदाय के लिए दुर्बोध होती। अतः उन्होंने एक बीच का रास्ता अपनाया। उन्होंने 'गांव की बोली' को 'कचराही' में बदलकर भी उसकी लय और जीवन्तता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया। भाषा के संबंध में अपनी इस नीति और प्रविधि को रेणु ने डॉ० लोठार लुट्से के प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्वयं ही स्पष्ट किया है—

"देखिए, यों जब साधारण जनता की बात कहनी हो, जब वे लोग बोलते हैं, तब तो जाहिर है कि अपनी गांव की बोली में बोलते हैं, मैथिली में बोलते हैं, मगही में बोलते हैं। मुझे लिखना पड़ता है उसको हिन्दी में। तो अगर मैं उसको शुद्ध, व्याकरण-सम्मत और पंडिताऊ भाषा में लिखता हूं, तो यह तो खुद कान में कैसा लगेगा कि यह एक गांव का आदमी किस तरह से बोलता—इतना शुद्ध बोलता है। और बिलकुल वैसा या अशुद्ध लिखने से यह उपन्यास चल नहीं सकता है। तो बीच का कहीं एक रास्ता तैयार करना होगा। तो, जो वे लोग बोलते हैं कचहरी-वचहरी में—कचराही बोली कहते हैं उसे—कचहरी की खिचड़ी भाषा में बोली जाने से कचराही बोली—मैंने इस्तेमाल किया है कई जगह इस कचराही बोली का।.....वे अपने ढंग से बोलते हैं। पर उसी ढंग से रखें तो भी इन

१. सारिका, मार्च, १९७१, पृ० ७
२. ठुमरी, पृ० १११

लोगों के गले से नहीं उतरेगा—सब कहेंगे कि यह तो बस रद्दी करके छोड़ दिया है, इनकी भाषा सीखने से तो हमारी भाषा खराब हो जायेगी। मैंने तो व्याकरण की दृष्टि से उसको सही रखा। फिर उसकी जो भाव की गति है, लय है बोलने की, उसको मैंने नहीं तोड़ा। है वह खड़ी बोली ही, लेकिन थोड़ा-सा यह शब्दों का हेर-फेर कर देने से आपको सुनने में लगेगा कि उसकी लय पकड़ में आ जाती है। है वह खड़ी बोली, लेकिन लय उसकी अपनी है। और फिर जो शब्द अंग्रेजी का उसके पास चला गया है—जैसे निस्पेट्टर: वह तो निस्पेट्टर ही बोलता है। आप उसको कहेंगे कि 'तुम अंग्रेजी बोल रहे हो', तो वह ऐसा नहीं समझेगा। वह तो निस्पेट्टर अपनी भाषा में बोलता है। तो उसको हम कैसे छोड़ देंगे? वह तो उसकी अपनी चीज है।.....अच्छा अंग्रेजी शब्दों के बारे में कहा ही, उर्दू शब्दों का भी कुछ ऐसा ही हुआ है। उन्हें भी मैंने, जिस ढंग से बोले जाते हैं, वैसे ही रखा है—इतना खयाल करते हुए कि भाषा कहीं चौपट न हो जाय। इसीलिए 'ग्रामर' मैंने सही रखा। बाकी वाक्य बनाने में थोड़ा-सा मैंने लय के लिए हेर-फेर कर दिया।..... तो मैंने ऐसा बीच का रास्ता अख्तियार करके लिखा—कथा की ईमानदारी तक पहुंचने के लिए भी, उसको सच्चा बनाने के लिए भी। कई जगह तो डायलाग में चरित्र उभरकर आपके सामने आता है।"[1]

रेणु की भाषा में ऐसे ग्रामीण शब्दों का या अंग्रेजी-उर्दू के 'बिगड़े हुए' शब्दों का बाहुल्य उनकी शैली की प्रमुख विशेषता बन गया है। उनकी कहानियों में बतकुट्टी, नैनू, गमकौआ, निसाफ (इन्साफ), जातरा (यात्रा), टैम (टाइम), लैन (लाइन), रमैन (रामायण), बामन, अलच्छन, कुलच्छन, मुहंजबानी, अखज-अदावत, फोकट, लाटफारम (प्लेटफार्म), पटपटांग, करकुट्ठाकाला, हड-हड़िया बज्जर, बिलैक-मारटिन (ब्लैक मार्केट), फिलिहस्टार (फिल्म स्टार), डलेवर (ड्राइवर), मछकी-मुनसा, लहेंगड़े-लौंडे, छदोड़ी, कहल-सुनल जैसे असंख्य शब्द मिलते हैं। कहीं-कहीं शब्दों की ध्वन्यात्मकता से ही उनके अर्थ का बोध होता है। 'तीर्थोदक' में केवल चौधरी का परिवार ही गांव में किसी तरह "टुटरुटूं चल रहा है।" 'हाथ का जस वाक का सत्त' के जग्गू पंसारी बुढ़ापे में भी एक जवान 'तड़तड़' पहाड़िन को घर में बिठा लेता है। डॉ० कुमार विमल ने रेणु के इन भाषिक प्रयोगों को 'विपथनशीलता' की संज्ञा देते हुए लिखा है कि इसी "विपथन-शीलता ने रेणु की भाषा-शैली को विशिष्ट बना दिया—उसके बाह्य व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी भाषा को 'अनन्वय' बना दिया, जिसमें शुद्धि और पांडित्य ने नहीं, अभिव्यक्ति की सटीकता और यथार्थानुकृति ने प्राथमिक महत्त्व प्राप्त कर लिया।"[2]

१. 'रेणु का आत्म-साक्ष्य' (लोठार लुट्से से बातचीत) नया प्रतीक, जून, १९७७
२. कुमार विमल, 'रेणु की याद में' (नया प्रतीक, मार्च १९७८)

यह विपथनशीलता अथवा भाषा संबंधी यह उदार अभिवृत्ति और उन्मुक्तता रेणु की शैली की प्रमुख विशेषता है। दुर्भाग्य से अधिकांश लोगों की दृष्टि इस विपथनशीलता, या उनके शब्दों में भाषा संबंधी असावधानी में ही उलझकर रह गई है और वे रेणु की भाषा की सृजनशीलता, संवेदनशीलता और सांकेतिकता की ओर कोई ध्यान नहीं दे सके हैं। रेणु भाषा-प्रयोग के मामले में कतई असावधान नहीं हैं। सच तो यह है कि वे हिन्दी के उन इने-गिने साहित्यकारों में से एक हैं जो भाषा के बारे में काफी सचेष्ट और जागरूक हैं। सम्प्रेषण-माध्यम के रूप में भाषा की अपूर्णता और सीमा के कटु यथार्थ से दो-चार होकर ही उन्होंने भाषा के परम्परागत जड़ ढांचे को तोड़ा और परिनिष्ठित शब्दों के स्थान पर गंवारू शब्दों के प्रयोग से उसमें नये प्राण भरने की कोशिश की। 'संवदिया' कहानी में रेणु हरगोबिन संवदिया का परिचय देते हुए जब यह कहते हैं—"संवाद पहुंचाने का काम सभी नहीं कर सकते। आदमी भगवान के घर से ही संवदिया बनकर आता है। संवाद के प्रत्येक शब्द को याद रखना, जिस सुर और स्वर में संवाद सुनाया गया है, ठीक उसी ढंग से जाकर सुनाना, सहज काम नहीं"[1]—तो मानो सम्प्रेषण के संकट को ही रेखांकित करते हैं। रेणु इस संकट को पहचानकर अपनी कहानियों में इससे जूझते नजर आते हैं। उन्होंने ऐसी भाषा की तलाश की है जिसमें वर्णनात्मकता की अपेक्षा रचनात्मकता अधिक है। जो खुद बोलती है, जीवन के रहस्यों को खोलती है। 'तीन बिंदियां' में गीताली के मिस उन्होंने कविवर शमशेर बहादुर सिंह के शब्द उद्धृत करके जो दावा किया है—"बात बोलेगी, मैं नहीं। राज खोलेगी बात ही"—उसमें कोई अतिशयोक्ति या मिथ्या दम्भ नहीं है। इस 'बोलती' रचनात्मक और सांकेतिक भाषा के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

'एक आदिम रात्रि की महक' में करमा गोपाल बाबू की घरवाली के बारे में अपना यह मत प्रकट करता है—"बौमा का मिजाज तो इतना खट्टा था कि बोली सुनकर कड़ाही का ताजा दूध फट जाये।"[2] 'विघटन के क्षण' में 'शामा चकेवा' पर्व मनाए जाने के बाद "एक चदरी भर सरदी पड़ गयी।"[3] 'रसप्रिया' में जोधन गुरु जी की बेटी, बाल विधवा रमपतिया बारहवें साल में पांव रखने पर विद्यापति के "पदों का अर्थ समझने लगी थी।"[4] 'सिरपंचमी के सगुन' में सिंघाय की बीबी

१. फणीश्वरनाथ रेणु, 'मेरी प्रिय कहानियां' (राजपाल एण्ड सन्ज़, दूसरा संस्करण, १९७५), पृ० ७०-७१
२. आदिम रात्रि की महक, पृ० ५१
३. वही, पृ० १०
४. ठुमरी, पृ० १६

टेढ़े फाल को रेलवे के मिस्त्री से ठीक करवाती है तो उसके घरवाले को हरखू से गाली के बदले गाली नहीं, 'लाल लोहे की तरह कलेजे पर बैठने वाला' यह ताना सुनना पड़ता है—"सिंघाय, यह रेलवे की गरमी बहुत देर तक नहीं रहेगी तुम्हारी।"[1] 'तीसरी कसम' में हिरामन को लगता है कि हीराबाई की "मुसकराहट में खुशबू है",[2] उसके साथ बतियाते समय उसे लगता है कि उसके "मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है",[3] हीराबाई के सामीप्य से जब उसकी आंखें तरल हो जाती हैं तो "डबडबाई आंखों से हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखाई पड़ती है"[4] तथा हीराबाई के चले जाने के बाद उसके होंठों पर "मरे हुए मुहूर्तों की गूंगी आवाजें मुखर होना चाहती हैं।"[5]

रेणु ने अनेक स्थलों पर एक प्रकार से सान्द्रित भाषा का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त थोड़े से शब्द पाठक के मन में बहुत सारी प्रतिक्रियाओं को एक साथ उत्पन्न करके एक संश्लिष्ट अर्थबोध का कारण बनते हैं। 'तीसरी कसम' में चोरबाजारी का माल ढोते जब सारे काफिले के साथ हिरामन पकड़ा जाता है तो वह गाड़ी को वहीं छोड़कर बैलों के समेत भाग जाने का फैसला करता है। इस फैसले को वह कैसे कार्यान्वित करता है, इसका वर्णन रेणु इन शब्दों में करते हैं—"एक दो तीन ! नौ दो ग्यारह !···"[6] भाषा की सान्द्रिता की दृष्टि से ये छः शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। "एक दो तीन" एक ओर उस नीलाम की बोली की ओर संकेत करते हैं, जिससे हिरामन आशंकित है। वह जानता है कि यदि वह पकड़ा गया तो उसके बैल अनेक दिन तक भूखे-प्यासे रहने के बाद नीलाम हो जायेंगे। दूसरी ओर ये शब्द अपने संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए हिरामन की तत्परता की ओर भी इंगित करते हैं। एक दो तीन—अर्थात् वह तैयार है। किसलिए ? नौ दो ग्यारह हो जाने के लिए, भाग जाने के लिए। इसी प्रकार 'तबे एकला चलो रे' में जब गांव का एक प्रतिष्ठित बाबू एक गरीब औरत को दस रुपये का नोट दिखलाकर फुसलाना चाहता है तो इन रुपयों के सामने उस अबला की दरिद्रता और दीनता को रेणु ने इन शब्दों में रेखांकित किया है—"तीन आने की हल्दी बेचकर, इकन्नी का नून लेकर लौटती हुई संतोखी की बेवा दस रुपये का नोट देखकर कांप उठी थी।"[7] इसी कहानी में पाड़े की मां के लिए 'बथान की महिषी'

१. ठुमरी, पृ० ९६
२. वही, पृ० ११०
३. वही, पृ० ११४
४. वही, पृ० १२४
५. वही, पृ० १४०
६. वही, पृ० १०७
७. आदिम रात्रि की महक, पृ० ३३

का प्रयोग बहुत ही सार्थक है। 'महिषी' शब्द एक साथ भैंस और पटरानी शब्द का द्योतक होकर शब्द-चयन के मामले में रेणु की सतर्कता की ओर संकेत करता है। रेणु सूक्ष्म और काव्यात्मक कथा-स्थितियों के ऐसे वर्णन से, जो एक साथ यथार्थपरक और भावात्मक लगता है, हिन्दी गद्य की सम्भावनाओं को उद्घाटित करने में सफल हुए हैं। 'सिरपंचमी के सगुन' में सिंघाय विघ्न-बाधाओं के बाद भक्तिभरे मन से पूजा करने बैठता है। उसकी मनःस्थिति की ओर रेणु इन शब्दों में इंगित करते हैं—"मुट्ठी-भर अक्षत लेकर, भक्ति भरे मन से सिंघाय ने पूजा की। पूजा करने में उसने जान-बूझकर जरा देर कर दी।...इस शुभ घड़ी को 'पसर' कर उपभोग न करे वह!"[1] 'लाल पान की बेगम' कहानी के अन्त में बिरजू की मां की इच्छा पूरी हो जाती है। उसका मर्द उसे बैलगाड़ी में बिठाकर नाच देखने के लिए ले जाता है। जंगी की पुतोहू को वह खुद मनाकर बैलगाड़ी में अपनी बगल में बिठाती है। उसके मन का सारा वैर, क्रोध, मैल अपने आप धुल जाता है। उसे लगता है कि लाल पान की बेगम कहकर जंगी की पुतोहू ने उसकी प्रशंसा ही की है। कहानी के अन्तिम अनुच्छेद में रेणु ने इस सारी स्थिति को इन शब्दों में समेटा है—

"बिरजू की मां ने अपनी नाक पर दोनों आंखों को केन्द्रित करने की चेष्टा करके अपनी रूप की झांकी ली, लाल साड़ी की झिलमिल किनारी, मंगटीक्का पर चांद।...बिरजू की मां के मन में अब और कोई लालसा नहीं। उसे नींद आ रही है।"[2]

रेणु का वाक्य-विन्यास भी भाषा की सामान्य परिपाटी से कुछ हटकर लगता है। वे वाक्य में से कुछ शब्दों को उनके व्याकरण-सम्मत स्थान से निकालकर वाक्य के अन्त पर अलग से रखते हैं। यह बात उनकी शैली की महज एक भंगिमा नहीं है। वे ऐसी बात के किसी एक पक्ष पर बल देने के लिए अथवा किसी बिन्दु को उभारने के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए 'हाथ का जस और बाक का सत्त' का यह वाक्य लिया जा सकता है—"गूलर का दूध और बाकल (वल्कल) उस अनाम-शिशु-रोग की एकमात्र रामबान दवा है—आज भी।"[3] 'आज भी' को वाक्य के आरम्भ या मध्य में न रखकर अन्त में रखने से इस अर्थ की अनुमति होती है कि वक्ता के अनुसार आज वैज्ञानिक विकास के युग में ऐसा नहीं होना चाहिए था। यदि इन दो शब्दों को परम्परागत व्याकरण के नियमों के अनुसार आरम्भ या मध्य में रखा जाता तो वक्ता का उक्त मनोभाव उभरकर सामने नहीं

१. ठुमरी, पृ० ६५
२. वही, पृ० १५६
३. हाथ का जस, पृ० १२०

आता। यही बात 'रसप्रिया' के इस वाक्य में देखी जा सकती है—"विजया को छोड़कर उससे (चुरमुनियां से) और कोई काम नहीं ले सकता, उसकी मां भी नहीं।"[1]

परिनिष्ठित भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा में अधिक सम्भावनाएं हैं। बोलचाल में लोग कभी-कभी संकेत भाषा अर्थात् कोड भाषा का भी प्रयोग करते हैं। रेणु के पात्र अपने संवादों में कहीं-कहीं इस कोड भाषा का भी प्रयोग करते हैं। 'पंचलाइट' में मुनरी यह बताना चाहती है कि उसका प्रेमी गोधन पंचलैट बालना जानता है। पर गोधन का पंचायत ने हुक्का-पानी बन्द किया है। अतः उसे पंचों से यह बात कहने का साहस नहीं होता है। तब वह चालाकी से अपनी सहेली कनेली के कान में बात डाल देती है—"कनेली! चिगो, चिधऽऽ, चिन।"[2] शुद्ध भाषा के आग्रही आलोचक कुछ समझें या न समझें, कनेली तीनों शब्दांशों के आगे से 'चि' हटाकर उन्हें गोधन के रूप में 'डिकोड' करती है और बात समझ कर पंचों से सम्बोधित होती है कि गोधन पंचलाइट बालना जानता है। रेणु के पात्र कभी-कभी कोई अश्लील या अभद्र बात कहने के लिए भी इन कूट संकेतों का सहारा लेते हैं। 'आज़ाद परिन्दे' में लड़की स्कूल का चपरासी आवारा छोकरे हरबोला को डांटते हुए कहता है—"साला, यहां नाली में बेबी लोग 'तीन मिनट' करती है और तू देखता है? भागो, साले।"[3] 'नैना जोगिन' में रतनी रमेसर की मां के साथ झगड़ती हुई कहती है कि रमेसर की मां जिसका डर दिखलाती वह मुनसा "रतनी का 'अथि' भी नहीं उखाड़ सकता।"[4] इसी संदर्भ में उन शब्दों का भी उल्लेख हो सकता है जिन्हें रेणु के ग्रामीण पात्र स्वयं गढ़ते हैं। पेट्रोमेक्स के लिए वे 'पंचलैट' शब्द का प्रयोग करते हैं। अमरीका और रूस इन दो नामों को जोड़कर वे एक ही समस्तपद बनाते हैं 'मिरकारुस' इत्यादि-इत्यादि।

रेणु को किसी-किसी कहानी में संवाद और चेतना प्रवाह के संश्लिष्ट रूपों को अलग करने वाले विभिन्न भाषिक धरातल एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं। इस बात को 'नैना जोगिन' कहानी से उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। कहानी में वक्ता रतनी को अंधेरी रात में अमलतास और गुलमोहर के पौधे तोड़ते हुए पकड़ता है। वह संक्षिप्त शब्दों में, एक स्पष्ट और सपाट भाषा में मतलब भर बात करके उससे पूछताछ करता है—'क्यों तोड़ा है? क्या मिला? इस तरह मेरे पीछे क्यों पड़ी हो? ऐसे गांव में अब कोई भला आदमी कैसे रह सकता है?'

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० ११
२. ठुमरी, पृ० ८१
३. आदिम रात्रि की महक, पृ० १२०
४. वही, पृ० १७६

इत्यादि-इत्यादि। उत्तर में रतनी अनेक प्रकार की भाषा का प्रयोग करती है। कभी ग्रामीण भाषा में उससे पूछती है कि क्या भला आदमी को 'पूंछ-सींग' होता है? कभी उस पर व्यंग्य करती है कि 'जाइए, थोड़ा ब्रांडिल और चढ़ाइए।' कभी निडर और निर्लज्ज बनकर कहती है कि कोई उन दो को रात में इस तरह देखकर क्या करेगा? "देखकर आपका अथि, और मेरा 'अथि' उखाड़ लेगा?" कभी तीर की तरह चुभने वाली बात कहती है—"वह तो पौधा ही है, जी तो आपको ही तोड़ देने को करता है।" किन्तु इसी प्रसंग में, इन सबसे अलग भाषा का एक और रूप भी दृष्टिगोचर होता है। भाषा का यह रूप, ये शब्द रतनी के मुख से नहीं निकलते, बल्कि वक्ता को लगता है कि रतनी का रोम-रोम पुकार-पुकार कर उससे पूछ रहा है—"···बोलिए, मैं पापिन हूं? मैं अच्छूत हूं? रंडी हूं? जो भी हूं, आपकी हवेली में पली हूं···तकदीर का फेर···माधो बाबू···रतनी नाम भी आपके ही बाबूजी का दिया है। आपने उसको बिगाड़ कर नैना जोगिन दिया। किस कसूर पर?···"[1] इत्यादि।

इन शब्दों में भावातिरेकता है, पीड़ा और आक्रोश है। परिणामस्वरूप वक्ता के मन में अंकित रतनी की छवि धुंधली पड़ जाती है। अनेक रूपों से मिलकर बना उसका एक नया रूप उसके आगे उभरता है। और इस धरातल पर भाषा का एक नया रूप सामने आता है। शब्द व्याकरण और वाक्य के बंधन से मुक्त होकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं—"पूंछ-सींग···जानवर ···औरत-मर्द···नंगे-बेपर्द···अंधकार-प्रकाश···गुराहट···आंखों की चमक··· बड़े-बड़े नाखून···बिल्ली···शिवा···शैवा···गृद्धासया···यौनिस्याभगिनी··· भोगिनी···महाकुश···स्वरूप···छिन्नमस्ता अट्टहास···।"[2]

फणीश्वरनाथ रेणु की समूची शिल्प-चेतना की भांति ही उनकी भाषा में भी 'शुद्धता' के प्रति अवज्ञा और विद्रोह झलकता है। मिश्रित शिल्प से ही नहीं, मिश्रित भाषा के प्रयोग के कारण भी उनकी कहानियाँ प्रभावपूर्ण और विशिष्ट बन गयी हैं।

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० १८०-८१
२. वही, पृ० १८१

रेणु की कहानियों की सार्थकता

साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही कहानी का मूल्यांकन भी उसकी शिल्पगत सफलता के आधार पर ही नहीं, उसकी सार्थकता के संदर्भ में भी होना चाहिए। फणीश्वरनाथ रेणु ने कथा-शिल्प में कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जिन्होंने उनकी कहानियों को अभूतपूर्व कलात्मकता और विशिष्टता प्रदान की है। यह बात अपनी जगह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इत्यलम् नहीं हो सकती है। रेणु की कहानियों के सही मूल्यांकन के लिए आवश्यक है कि बात उनकी शिल्पगत सफलता पर ही समाप्त न की जाय, बल्कि वर्तमान वास्तविकता के आलोक में उनकी सार्थकता की भी परीक्षा की जाय।

रेणु की कहानियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे एक कुशल या सफल कलाकार ही नहीं, एक सचेत और प्रतिबन्ध रचनाकार भी थे। कुछ अन्तर्विरोधों के बावजूद रेणु के कथा-साहित्य में सार्थकता, अर्थवत्ता और सोद्देश्यता मिलती है। उनकी कहानियों में जहाँ यथार्थ की गहरी चेतना और वर्तमान विसंगतियों का तीव्र बोध मिलता है, वहाँ मानव के मंगलमय भविष्य के लिए एक बलवती इच्छा भी दृष्टिगोचर होती है। यह दूसरी बात है कि अपने कुछ पूर्वाग्रहों के कारण वे वर्तमान विसंगतियों को कहीं-कहीं उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने में असमर्थ रहे हैं। फिर भी रेणु की कहानियाँ हिन्दी की यथार्थवादी कथा-परम्परा और जनवादी साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

रेणु का यथार्थ-बोध

रेणु के कथा-साहित्य में जो बात सबसे पहले हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह है उनका यथार्थ-बोध। वास्तव में यथार्थवाद आधुनिक उपन्यास/कहानी का एक अविच्छिन्न तत्त्व है। ये साहित्यिक विधाएं विश्व-संस्कृति को बुर्जुआ या पूंजीवादी सभ्यता की सबसे महत्त्वपूर्ण देन हैं। जार्ज लूकाच ने उपन्यास को आज के युग का महाकाव्य कहा है। महाकाव्य और उपन्यास दोनों में लेखक की विश्व-दृष्टि कथा के माध्यम से व्यक्त होती है। परन्तु यथार्थवाद ही वह तत्त्व है जो

आधुनिक कहानी-उपन्यास को प्राचीन महाकाव्य से अलग करता है। पश्चिम में यथार्थवाद का विवेचन दर्शन के क्षेत्र में भी हुआ है तथा कला और साहित्य चिन्तन के प्रसंग में भी। यथार्थवादी चिन्तक यह मानकर चलते हैं कि कला का संबंध बाह्य जगत् तथा इसके नाना रूप-व्यापारों से है, और इस बाह्य जगत् का अस्तित्व हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक स्वतन्त्र वस्तुगत यथार्थ है। इसके साथ ही यथार्थवाद साहित्य की सोद्देश्यता पर भी बल देता है। यथार्थवाद के मूल में साहित्य की समय और समाज सापेक्षता का सिद्धान्त है। जार्ज लूकाच के अनुसार सारे यथार्थवादी साहित्य पर अरस्तू की यह उक्ति पूरी तरह लागू होती है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी विशिष्ट वैयक्तिकता को भी उस संदर्भ से अलग नहीं किया जा सकता जिसमें उसकी सृष्टि हुई हो।[१] इसका कारण यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति और परिवेश के परस्पर विरोध से ही होता है। पब्लिक और प्राइवेट सेक्टर में मानव व्यक्तित्व का विभाजन मानवता के सत्व की विकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः यथार्थवादी कलाकारों और लेखकों ने पूंजीवादी संस्कृति का विरोध यथार्थ के चितेरों के रूप में नहीं, महान मानवतावादी बनकर भी किया।

रेणु एक यथार्थवादी कथाकार हैं। उनका कथा-संसार समाजशास्त्रीय प्रतिरूपात्मक संसार है। अर्थात् उन्होंने अपनी रचनाओं में मनुष्य को उसके सामाजिक परिवेश में चित्रित करके इस वास्तविक संसार को ही रूपायित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने किसी 'भीतरी' सत्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कहानियाँ नहीं लिखी हैं। रेणु की कहानियों में हमारा परिचय लेखक के भीतरी जगत् से न होकर बाह्य जगत् में विचरने वाले भाँति-भाँति के लोगों से होता है जो परस्पर और अपने परिवेश के साथ पूरी तरह जुड़े नजर आते हैं। रेणु के किसी भी पात्र के व्यक्तित्व से यदि दूसरे व्यक्तियों और परिवेश से प्रभावित अंश को निकाल दिया जाय तो शेष कुछ भी नहीं बचेगा। उनकी समस्याएं उनके परिवेश की ही समस्याएं हैं। रेणु ने वर्गभेद, वर्णभेद, शोषण, गरीबी, जहालत, ऋण, बेकारी, देहाती और शहरी संस्कृति के मध्य संघर्ष, ग्राम संस्कृति का विघटन, साम्प्रदायिकता, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार का भ्रष्टाचार, महाजनी सभ्यता की विकृतियां आदि सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के कच्चे माल से ही अपनी कथा-स्थितियां बुनी हैं और अधिकांश कहानियों में इन समस्याओं को उन्होंने इनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की है। इनमें जहां वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष और क्षोभ के दर्शन होते हैं वहां मनुष्य की जिजीविषा

१. George Lukach, 'The Meaning of Contemporary Realism', p. 19.

तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ उसके संघर्ष में आस्था भी मिलती है। 'मन के रंग' कहानी का वक्ता, जो अपना गांव-घर छोड़कर शहर में नीम बेकारी की हालत में रहने पर विवश है, हमेशा कुढ़ता रहता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु से नाराज इसी व्यक्ति का मन अपने शिशु की किलकारियों से आह्लादित होती भिखारिन को देखकर अजाने प्रसन्न हो जाता है और जीवन की विषमता से जूझने के लिए उसमें नयी शक्ति और स्फूर्ति आ जाती है।

डॉ० रामदरश मिश्र का मत है कि रेणु की अधिकांश कहानियों की धुरी प्रेम या सेक्स है। हालांकि उन्होंने दबे स्वर में यह भी स्वीकारा है कि इस सेक्स के साथ सामाजिक जीवन का कोई न कोई पहलू भी अवश्य जुड़ा होता है जो पार्श्व में पड़ जाने के कारण अपना प्रभाव नहीं छोड़ता।[२] रेणु की इन तथाकथित 'सेक्स केन्द्रित' कहानियों में उन्होंने 'रसप्रिया' और 'तीसरी कसम' को गिना है। इन कहानियों में मुख्य कथा की धुरी निःसंदेह प्रेम है। परन्तु, जैसा कि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया है, प्रभाव की दृष्टि से रेणु की कहानियों में मुख्य कथा नहीं, समूची कथात्मक संरचना महत्त्वपूर्ण होती है। और रेणु की अन्य कहानियों की तरह इन कहानियों की समग्र संरचना भी सामाजिकता की भित्ति पर खड़ी है। 'रसप्रिया' में मिरदंगिया और रमपतिया के पार्थक्य का कारण मिरदंगिया की किसी भीतरी मानसिक गांठ की अपेक्षा जातिभेद का ठोस सामाजिक आधार है—"जोधन गुरुजी से उसने अपनी जात छिपा रखी थी।"[३] मोहना मिरदंगिया का बेटा नहीं, जैसा कि डॉ० रामदरश मिश्र ने भ्रमवश निष्कर्ष निकाला है।[४] कहने को तो मोहना का पिता बूढ़ा अजोधादास है जो मंडली की गठरी ढोता था।[५] मगर "मोहना की बड़ी-बड़ी आंखें कमलपुर के (ज़मींदार) नन्दू बाबू की आंखों जैसी हैं।"[६] और कहानी में यह संकेत भी मौजूद है कि रमपतिया के आंगन में नन्दू बाबू का घोड़ा बारह बजे रात को…[७] तात्पर्य यह कि परस्पर आकर्षण के बावजूद गरीब लोगों का जाति-भेद के कारण संबंध नहीं हो पाता पर ऊंची जाति के सम्पन्न लोगों की तो हर हालत में पौ बारह है। वे छोटी-बड़ी जाति की गरीब औरतों को आसानी से अपनी रखैल बनाकर रख सकते हैं। खैर, मोहना का पिता जो भी हो, वह अपनी मां रमपतिया का बेटा है। उस-जैसा सुन्दर और गुणवान

१. हिन्दी कहानी, अन्तरंग पहचान, पृ० ११६
२. ठुमरी, पृ० १६
३. हिन्दी कहानी : अन्तरंग पहचान, पृ० १६१
४. ठुमरी, पृ० २०
५. वही, पृ० २१
६. वही, पृ० १७

बेटा पाकर उसकी मां 'महारानी' है।' मोहना एक प्रकार से छोटी जाति के निर्धन लोगों के आशापूर्ण भविष्य का प्रतीक है। क्योंकि 'सवर्णों' के घर में नहीं, छोटी जाति के लोगों के यहां मोहना जैसे लड़की-मुंहा लड़के हमेशा पैदा नहीं होते हैं। ये अवतार लेते हैं, समय-समय पर जदा जदा हि…"[२]

'रसप्रिया' की मुख्य कथा में निहित इस अर्थ को यदि छोड़ भी दें, तो भी उसकी पूरी कथात्मक संरचना, मुख्य नाद के साथ-साथ उत्पन्न सहायक नाद, विभिन्न उपाख्यान एवं प्रसंग 'सेक्स केन्द्रियता' के आरोप का खंडन करके उसकी समाज-सापेक्षता को रेखांकित करते हैं। परमानपुर में एक ब्राह्मण के लड़के को बेटा कहने पर पंचकौड़ी मिरदंगिया की मारपीट होना, गरीब मां के बेटे का सुन्दर और गुणवान होने के बावजूद भूखा और बीमार रहना, लोक-कलाकारों को भिखारी समझा जाना—ये सारे प्रसंग दो प्रेमियों की एक कोमल कहानी को पूरे परिवेश की कहानी बताते हैं। इसी प्रकार 'तीसरी कसम' में हिरामन और हीराबाई के आकर्षण और अलगाव की नियति को ग्रामीण सामन्ती समाज-व्यवस्था (जिसका प्रतीक गांव का मेला है जहां दोनों का मिलन होता है) एवं महाजनी अर्थ-व्यवस्था (जिसका प्रतीक व्यावसायिक मथुरा मोहन नौटंकी कम्पनी है जिसमें शामिल होने के लिए हीराबाई हिरामन को छोड़कर चली जाती है) के द्वंद्व के परिप्रेक्ष्य में देखना अधिक समीचीन होगा। प्रेम और अलगाव की इस कहानी के अर्थ को मिथक के स्तर पर खोलने वाली महुआ घटवारिन की अन्तर्कथा में भी महुआ जन-जीवन की सहजता और स्वच्छता की प्रतीक है और सौदागर क्रूर महाजनी मूल्यों का। कहानी के अन्त में जब हीराबाई इसी कथा की ओर संकेत करती हुई कहती है कि "महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरुजी"[३] तो वह इसी व्यापक सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की ओर इशारा करती है। डॉ० रामदरश मिश्र ने और तो और, 'सिरपंचमी का सगुन' को भी रेणु की उन कहानियों में गिना है, जिनकी धुरी सेक्स है। यह कहानी तो स्पष्टतः नारी-पुरुष के परस्पर आकर्षण को नहीं, दो व्यक्तियों (सिंधाय और कालू कमार) की आपसी शत्रुता की भी नहीं, अपितु बदलती हुई सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में मानव सम्बन्धों के बनने और टूटने की प्रक्रिया की कहानी है। देहाती सामन्ती समाज के अपने नियम और कानून हैं। सिंधाय पूरे पांच साल तक कालू कमार का 'खैन' बाकी रखता है। न अगहनी फसल में से उसे एक चुटकी धान देता है, न रबी में मुट्ठी

१. ठुमरी, पृ० २१
२. वही, पृ० १२
३. वही, पृ० १३६

भर चना। कालू इस सबका बदला लेने के लिए ऐन सिरपंचमी के दिन, जिस दिन किसान जुताई का श्रीगणेश करते हैं, उसका फाल टेढ़ा करता है। जाति की बंदिश ऐसी है कि गांव का ही नहीं, जिले भर का कोई लुहार या कमार ऐसे टेढ़े फाल को सीधा नहीं कर सकता है। लेकिन इन सामन्ती बंदिशों को नयी उभरती शक्तियां चुनौती देती हैं। गांव के निकट रेलवे पुल बन रहा है और सिंधाय की घरवाली रेलवे के मिस्त्रियों से टेढ़ा फाल सीधा करवाती है। सिंधाय कालू कमार को नीचा दिखाता है। मगर शीघ्र ही दोनों आपसी मन-मुटाव भूलकर साझेदारी में नया 'व्यापार' शुरू करने की बात सोचते हैं। रेलवे के मिस्त्री काम करते-करते लोहे के छोटे-छोटे टुकड़े पानी में डाल देते हैं। सिंधाय से यह बात जानकर कालू कुल्हाड़ों, भालों, सरौतों आदि की दुकान खोलने का सपना देखता है और सिंधाय को नफे की रकम में चार आने रुपया के हिसाब से भागीदार बनाने का सुझाव रखता है। अर्थात् पुरानी बंदिशें धीरे-धीरे ढीली पड़ रही हैं। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की नयी वास्तविकता रेल के जरिये शहर से गांव में पहुंच रही है। पुराने रिश्तों और मूल्यों के स्थान पर रुपये-पैसे, नफा-नुकसान के आधार पर नये रिश्ते बन रहे हैं। परन्तु आश्चर्य है कि डॉ० रामदरश मिश्र को यह कहानी भी 'सेक्स-केन्द्रित' कहानी ही नजर आती है।

रेणु पर आरोप लगाया जाता है कि उनके अनुक पात्र अकेले व्यक्ति हैं और आधुनिकतावादियों की तरह रेणु की रचनाओं में भी इस अकेलेपन के प्रति एक अजीब तरह का मोह लक्षित होता है। 'मैला आंचल' का डॉ० प्रशान्त अकेला है, 'परती : परिकथा' का जित्तन अकेला है, 'जुलूस' की पवित्रा अकेली है। कहानियों में 'रसप्रिया' का पंचकौड़ी मिरदंगिया अकेला है, 'तीसरी कसम' का हिरामन अकेला है, 'एक आदिम रात्रि की महक' का करमा अकेला है। रेणु के ये पात्र एक तरह से अकेले अवश्य हैं परन्तु इनके चरित्र के विकास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए उनकी छटपटाहट ही कथा को गति देती है। आरंभ में ये पात्र भले ही अपने अकेलेपन में कोई विलक्षण सुख अनुभव करते हों पर कथा के अन्त पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उनकी नियति उनके आस-पास के लोगों, एक बृहद मानव समाज की नियति से अलग नहीं है। 'मैला आंचल' में होली के दिन जब डॉ० प्रशान्त जेल काटकर घर लौटता है तो उसे यह देखकर दुःख होता है कि गांव का कोई बच्चा उस पर रंग नहीं डालता। उसका मन यह जानकर ग्लानि से भर जाता है कि गांववासियों के लिए वह अजनबी ही बना रहा। उसे एहसास हो जाता है कि गांव के सीधे-सादे लोगों के बीच उसकी विशिष्टता उसके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। परन्तु जब कालीचरण अचानक 'बुरा न मानो होली है' कहकर उस पर रंग फेंकता है और 'लाल सलाम, डागडर बाबू!' कहकर

उसका अभिवादन करता है तो उसका मरा हुआ मन फिर से जी उठता है। इसी प्रकार 'जुलूस' की दीदी ठाकुरुन, पवित्रा चटर्जी जीवन में बहुत कुछ सहने के बाद अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि उसका भाग्य लाखों-करोड़ों दरिद्र लोगों के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ है। भूखे, प्यासे, नंगे, दीन-दुखियों के जुलूस में शामिल होकर ही उसके जीवन को सार्थकता मिल सकती है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का 'रमता जोगी बहता पानी' अकेला लावारिस करमा भी अकेलेपन से ऊबकर किसी दूसरे व्यक्ति, किसी परिवार, किसी बस्ती और किसी समाज के साथ जुड़ना चाहता है और जो लोग परिस्थितिवश जुड़ नहीं पाते, वे भी 'रस-प्रिया' के मिरदंगिया की तरह समाज के विकास और विकास की द्योतक नयी पीढ़ी के लिए मंगल-कामना करते हैं।

भवानीप्रसाद मिश्र ने रेणु के विषय में उचित ही कहा है कि "उन्होंने जो कुछ लिखा उसका स्रोत कोई व्यक्तिगत दर्द या व्यक्तिगत मुक्ति की इच्छा नहीं थी। वे सार्वजनिक काम के कायल थे और उनका सारा लिखना मानो उसी पर मरहम लगाने और भरने की कोशिश थी।"[१] 'रेखाएं : वृत्तचक्र' रेणु की आत्मकथात्मक या आत्मविश्लेषणात्मक कहानी है। किन्तु इसमें भी लेखक ने अपने व्यक्तिगत दर्द के साथ-साथ अपने परिवेश की भी व्यथा-कथा कही है। उनकी आपबीती जगबीती से पूरी तरह अलग नहीं है। अपनी अन्तर्कथा को वाणी देने के साथ-साथ रेणु ने अनेक सामाजिक प्रश्नों को भी उभारा है। बेहोशी या नीम होशी की हालत में भी वक्ता अपनी हालत की अपेक्षा जलधर (सिने गीतकार शैलेन्द्र ?), पुष्पलाल (कवि-कथाकार राजकमल चौधरी ?), उमा (लतिका रेणु ?) तथा अन्य असंख्य लोगों के हाल से आविष्ट और ग्रस्त रहता है।

रेणु ने अनेक कहानियों में गांवों के टूटने पर आवश्यकता से अधिक दुःख प्रकट किया है और कहीं-कहीं तो वह इस बारे में बहुत ही भावुक हो गये हैं। क्या यह बात लेखक की इतिहास-दृष्टि के साथ-साथ उनकी नीयत के आगे भी प्रश्न-चिह्न नहीं लगाती ? क्या वे सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को अस्वीकार नहीं करते ? नहीं, ग्रामीण संस्कृति के प्रति रेणु का मोह सामन्ती मूल्यों के समर्थन का नहीं, लोक-जीवन में उनकी आसक्ति और आस्था का सूचक है। रेणु को दुःख है कि पूंजीवाद के उदय से शहरों की कृत्रिम और बाजारू संस्कृति गांवों की मिट्टी में रची-बसी लोक-संस्कृति को स्थानापन्न कर रही है। कहीं-कहीं रेणु ने अवश्य सामन्तवाद के अवशेषों यथा गांवों की बड़घरिया हवेलियों ('विघटन के क्षण'), बड़ी हवेलियों की टूटी

१. भवानीप्रसाद मिश्र, 'संवेदनशील रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित, पृ० ६)

ड्योढ़ियों ('संवदिया'), ऊंची ड्योढ़ियों के राज के जमाने ('तीसरी कसम' में हिरामन नामलगर ड्योढ़ी के जमाने को याद करके आह भरता है—'जा रे जमाना !') आदि का 'नास्टैलजिक' लगाव के साथ वर्णन किया है। फिर भी उन्होंने इनके अवश्यम्भावी विनाश को पहचान लिया है। अपनी सहानुभूति के बावजूद रेणु ने इनके विघटन को इतिहास का अनिवार्य फैसला मानकर स्वीकार किया है। इस दृष्टि से रेणु और महान यथार्थवादी कथाकार बालज़क में एक निराला सादृश्य मिलता है। अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद बालज़क की यथार्थ-दृष्टि की ओर संकेत करते हुए एंगेल्स ने मार्गरेट हार्कनेस के नाम अपने पत्र में लिखा था—"उसका (बालज़क का) महान कृतित्व एक भद्र समाज के उस विनाश पर लिखे गये शोक-गीत के समान है, जिसका उद्धार नहीं हो सकता है। यद्यपि उनकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जिसका नाश अवश्यम्भावी है, फिर भी इस सारी सहानुभूति के बावजूद उनका व्यंग्य तभी पैना बन जाता है जब वह सामन्त वर्ग के ही नर-नारियों का चित्रण करता है। अपने उपन्यासों में उसने जिन लोगों की खुली प्रशंसा की है, वे राजनीतिक दृष्टि से उसके सबसे बड़े विरोधी होते हुए भी आम जनता के ही प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार बालज़क अपने राजनीतिक पूर्वाग्रहों और सहानुभूति के विपरीत जाने के लिए विवश होता है। उसने अपने प्रिय सामन्तों के पतन की अनिवार्यता को पहचान लिया था और उनका वह उसी रूप में चित्रण करता है। मैं इसे यथार्थवाद की एक महान विजय मानता हूं।"[२]

रेणु के यथार्थ बोध की चर्चा उनकी राजनीतिक कहानियों पर विचार के बिना पूरी नहीं हो सकती हैं। राजनीति से संबंधित पात्रों और स्थितियों को लेकर लिखी कहानियों में रेणु ने किसी अस्पष्ट और द्वयर्थक शैली या शिल्प के माध्यम से नहीं, अपितु स्पष्टतः और एक सीमा तक 'पार्टिजन' रुख अपनाकर अपनी मान्यताएं, अपनी पसंद और नापसंदगी व्यक्त की है। इन कहानियों में जहां सामाजिक न्याय प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक संघर्ष के लिए आतुरता मिलती है वहां राजनीति या राजनीति में निहित स्वार्थों के कारण वितृष्णा भी झलकती है। रेणु के कृतित्व को विवादास्पद बनाने में इन कहानियों का बहुत हाथ है। इस बात की विस्तृत चर्चा रेणु की राजनीतिक दृष्टि के प्रसंग में आगे की जायगी।

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' के संदर्भ

२. Engles' Letter to the English Novelist, Margret Harkness, cited by Ralpy Fox in 'The Novel and the People', Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1956, p. 106

में रेणु के लेखन पर चर्चा करते हुए उनकी यथार्थ दृष्टि में शंका प्रकट की है। उनके अनुसार रेणु की रचनाओं में यथार्थवाद की अपेक्षा प्रकृतवाद के दर्शन होते हैं। उनका कहना है—"उसकी ('मैला आंचल' की) चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। गतिशील यथार्थ में कौन से तत्त्व अधिक प्रगतिशील हैं, कौन से मरणशील, किन पर व्यंग्य करना चाहिए, किन का चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिए, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें छोड़ देनी चाहिए और कितनी का उल्लेख होना चाहिए—कथा-शिल्प की इन विशेषताओं में 'मैला आंचल' का लेखक प्रेमचन्द की परम्परा से दूर जा पड़ा है।"[१] परन्तु अगले ही अनुच्छेद में डॉ० रामविलास शर्मा अपने इस मत का स्वयं खंडन करते हुए, या कम से कम उसमें आंशिक संशोधन करते हुए लिखते हैं—"फिर भी 'मैला आंचल' का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गांवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ण-शोषण और वर्ग-अत्याचारों का ऐसा जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है। कमजोरियों पर ध्यान केन्द्रित करके उसके इस गुण को भुला देना उचित नहीं होगा।"[२] डॉ० रामविलास शर्मा यह स्वीकार करते हैं कि रेणु सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हैं। उनकी आपत्ति यह है कि लेखक इन समस्याओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने में असमर्थ है।" 'मैला आंचल' के लेखक का दृष्टिकोण यह है कि समाज में अन्याय है, अन्धविश्वास है, रचनात्मक कार्य करने के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है लेकिन प्रगति चमत्कार से ही सम्भव है, जनता या राजनीतिक पार्टियों के किए कुछ नहीं हो सकता है।"[३]

डॉ० रामविलास शर्मा को 'मैला आंचल' में यदि गुण और दोष दोनों नजर आते हैं तो 'परती : परिकथा' में उन्हें दोष ही दोष दिखाई देते हैं। उन्होंने साफ़ कहा है कि "'परती : परिकथा' में 'मैला आंचल' के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है।"[४] उनकी इस आपत्ति का प्रमुख कारण नायक जित्तन का चरित्र है जो विशाल परती की डेढ़ हजार बीघे जमीन का अकेला मालिक है और 'मूर्ख, जाहिल और दुष्ट' गांववालों के बीच अपने को अकेला अनुभव करता है, इलियट के 'वेस्टलैंड' के मछुआ राजा की तरह जिसका पुरुषत्व

१. डॉ० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द की परम्परा और आंचलिकता,' लेखक के निबंध संग्रह 'आस्था और सौंदर्य' (किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद) प्रथम संस्करण में संकलित, पृ० ११६-२०
२. वही, पृ० १२०
३. वही, पृ० १२३
४. वही, पृ० १२६

सोता ही रहता है। डॉ० शर्मा के अनुसार "फ़ायड-चिकित्सालय के आउटडोर पेशेंट जित्तन को 'इलियट' की 'काकटेल पार्टी' की कुछ पंक्तियां स्मरण हैं और उसके बाग में 'एक नयी जाति का नागफनी उग आया है'—'रेयर कैक्टस'। 'काली नागफनी'। सभी प्रतीकों से लैस है 'वेस्टलैंड' का विफल मनोरथ मछुआ राजा।"[१] यह है आपत्ति का प्रमुख कारण। दूसरा और गौण कारण (या हो सकता है असल में यही मुख्य कारण हो) यह है कि रेणु ने कम्युनिस्टों का मज़ाक उड़ाया है। पीताम्बर झा कम्युनिस्ट हैं जिसने मुसलमानों में मकबूल अर्थात् लोकप्रिय होने के लिए अपना नाम 'मकबूल' रखा है। वह लेनिन की तरह नुकीली दाढ़ी रखता है जिसे वह कैंची-रेज़र से लेनिन की फोटो सामने रखकर, उससे एकदम मिलाकर, खुद तराशता है। उर्दू बोलने की धुन में हर अक्षर के नीचे नुक्ता लगाता है। इस पर डॉ० रामविलास शर्मा ने टिप्पणी की है कि 'हास्य रस की सृष्टि करने में रेणु जी थोड़ा स्वयं हास्यास्पद हो गये हैं।"[२] इस प्रकार का सनकीपन मकबूल में ही नहीं, 'परती : परिकथा' के दूसरे पात्रों में भी मिलता है—स्वयं जित्तन में भी। भिम्मल मामा तो प्रत्येक अंग्रेजी शब्द का हिन्दीकरण करता है। 'डेमोक्रेसी' उसके लिए 'दिमाकृषि' है, 'प्रोड्यूस' और 'प्रस्तुत' को मिलाकर वह एक नया 'भिम्मलीय' शब्द गढ़ता है—'प्रद्युस्य'। मगर डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे बुरा नहीं माना है। सम्भवतः इसलिए कि भिम्मल मामा या दूसरे पात्रों के साथ रेणु ने कम्युनिस्ट होने का लेबल नहीं लगाया है। वैसे डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना में, विशेषकर 'परती : परिकथा' के संदर्भ में कुछ सार अवश्य है। 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' की विस्तृत चर्चा, हमारे विषय-क्षेत्र को देखते हुए, यहां अप्रासंगिक होगी। डॉ० रामविलास शर्मा ने रेणु की कहानियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। परन्तु जिस प्रकृतवाद का आरोप उन्होंने 'मैला आंचल' पर लगाया है वह इस उपन्यास से अधिक रेणु की दो कहानियों 'आज़ाद परिन्दे' और 'लफड़ा' में दृष्टिगोचर होता है। इनमें लेखक में सामाजिक विकृतियों को, उनके सही संदर्भ में अलग करके, एक प्रकार से उनमें रस लेते हुए, चित्रित किया है। 'आज़ाद परिन्दे' में तब भी शहरी छोकरों के आवारापन के सामाजिक कारणों की ओर संकेत मिलता है। 'लफड़ा' में 'दि डायना गेस्ट हाउस' के रहने वालों और वहां की 'मैडम' के कुत्सित यौन-विकारों को सभी संदर्भों से अलग करके जैसे पाठकों को उत्तेजित करने के लिए ही उनका चित्रण किया गया है। सौभाग्य से रेणु की चार दर्जन

१. डॉ० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द की परम्परा और आंचलिकता', लेखक के निबंध संग्रह 'आस्था और सौंदर्य' (किताब महल, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद) प्रथम संस्करण में संकलित, पृ० १२६
२. वही, पृ० १३१

से अधिक कहानियों में यह अपने किस्म की एकमात्र कहानी है। अतः प्रकृतवाद रेणु के कथा-साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति न होकर उसका अपवाद है। रहा सवाल रेणु की रचनाओं से ध्वनित होने वाले व्यक्ति के वैशिष्ट्य के प्रति मोह और कम्युनिस्ट विरोध का। इसके कारणों का विश्लेषण आगे चलकर किया जायगा।

प्रेमचन्द की परम्परा और रेणु

हिन्दी साहित्य में शुरू से ही दो परस्पर-विरोधी कथा-प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक ओर गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' ('सरस्वती,' दिसम्बर, १९०३), बंग महिला की 'दुलाई वाली' (सरस्वती, मई, १९०७) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' जैसी दैनिक जीवन के विविध प्रसंगों के यथार्थ-चित्रण के आधार पर लिखी गई कहानियां मिलती हैं; दूसरी ओर रहस्यपूर्ण और रोमानी वातावरण की सृष्टि करने वाली और मानव-जीवन के किसी गूढ़ (?) सत्य को प्रकट करने वाली किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' ('सरस्वती', जून १९००) या रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (सरस्वती,' सितम्बर १९०३) जैसी कहानियां भी मिलती हैं। इन दोनों कथा-प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक हमें प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानियों में मिलता है। प्रेमचन्द ने यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति को सोद्देश्यता से जोड़कर हिन्दी में यथार्थ-वादी कथा-परम्परा का सूत्रपात किया। दूसरी ओर प्रसाद ने रोमानी कथा-प्रवृत्ति का परिष्कार करके हिन्दी में भाववादी, और कुछ आलोचकों के अनुसार आदर्शवादी कथाधारा का प्रवर्तन किया। प्रेमचन्द के कथा-संसार का इस वास्तविक संसार के साथ सम्बन्ध समाजशास्त्रीय प्रतिरूपात्मक (Sociological Representational) है और प्रसाद के कथा-जगत् का दृष्टांतिक (illustrative) तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द ने मनुष्य का चित्रण उसके सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश में करके इसी संसार को प्रतिरूपायित किया है। दूसरी ओर प्रसाद के पात्र अपनी आस-पास की सामाजिक परिस्थितियों से कटे केवल अपने अन्तर्जगत् में ही विचरण करते हैं और उनकी कहानियां जीवन को प्रतिरूपायित करने हेतु नहीं, किसी विचार या भाव के दृष्टांत-स्वरूप रची गयी लगती हैं।

प्रेमचन्द हिन्दी कहानी की विकास-यात्रा का वह पड़ाव है जहां पहुंचकर पहली बार उपलब्धि का एहसास होता है। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों और सैकड़ों कहानियों में उत्तर-भारत के किसानों की दुर्दशा और शहरी मध्य वर्ग की कुरीतियों के यथार्थ चित्रण के साथ हिन्दी में आधुनिक कहानी और उपन्यास को भी जन्म दिया। कथ्य हो या शिल्प, प्रेमचन्द की सबसे बड़ी शक्ति उनकी यथार्थ दृष्टि है। यह यथार्थ-दृष्टि न केवल प्रेमचन्द द्वारा अपने समय के भारतीय समाज के अनेक वर्गों के पात्रों, उनके आपसी सम्बन्धों, उनसे सम्बद्ध विविध समस्याओं,

घटनाओं, परिस्थितियों, परिस्थितिजनित भावनाओं एवं विचारों के प्रामाणिक चित्रण में, अपितु उनकी सहज कथात्मक संरचना में, उनकी अकृत्रिम और अलंकरण-रहित शैली में, शिल्प और भाषा की सम्भावनाओं को जिये जा रहे जीवन के अन्दर से ही खोजने के उनके प्रयत्नों में दिखाई देती है। हिन्दी में प्रेमचन्द के बाद उनके उत्तराधिकारियों में पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण नाम यशपाल का है। स्वतन्त्रता से पहले प्रेमचन्द की परम्परा में यशपाल के अतिरिक्त अमृतलाल नागर, नागार्जुन, रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', मन्मथनाथ गुप्त आदि का उल्लेख हो सकता है; और स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकरों में फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्म साहनी, अमरकान्त, मोहन राकेश, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, इब्राहीम शरीफ़, मधुकर सिंह, जितेन्द्र भाटिया आदि बीसियों समकालीन लेखकों का। प्रेमचन्द की परम्परा वास्तव में कौन-सी है? इस प्रश्न पर तनिक मतभेद है। कुछ लोगों की मान्यता है चूंकि प्रेमचन्द ने अधिकतर गांवों के विषय में ही लिखा है इसलिए बाद में लिखी गई ग्राम-कथाएं ही प्रेमचन्द की परम्परा में आती हैं। इस मान्यता के अनुसार नगरों-महानगरों के जीवन को लेकर लिखी गई कहानियां प्रेमचन्द की परम्परा के प्रतिकूल जाती हैं। परन्तु तथ्य यह है कि जिस सृजनात्मक दबाव से उस महान कथाकार ने 'पूस की रात,' 'अलग्योझा,' 'कफन' आदि ग्रामीण परिवेश की कहानियां लिखी हैं, उसी से 'मनोवृत्ति,' 'शतरंज के खिलाड़ी,' 'नमक का दारोगा' जैसे शहरी जीवन की कहानियां भी रची हैं—यद्यपि ऐसी कहानियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। वास्तव में प्रेमचन्द की विशेषता उनके गांव नहीं, उनकी यथार्थ दृष्टि और सोद्देश्यता है। शिल्प के स्तर पर उनकी यह यथार्थ दृष्टि सहज कथात्मक संरचना और वस्तुपरकता में झलकती है। प्रेमचन्द की परम्परा वास्तव में यथार्थवादी कथा-साहित्य की बृहत् परम्परा की ही एक कड़ी है जिसमें बालजक, डिकेन्स, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, थामस मान आदि की रचनाएं आती हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु हर दृष्टि से और हर स्तर पर प्रेमचन्द की परम्परा से जुड़ते हैं। रेणु ने स्वयं स्वीकार किया है कि वे प्रेमचन्द और टालस्टाय की किताबों से प्रेरणा पाते रहे हैं।[1] प्रेमचन्द की तरह ही उन्होंने भी मुख्य रूप से ग्रामीण परिवेश को लेकर ही कहानियां लिखी हैं। सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द के बाद रेणु ही दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं जिन्होंने ग्रामीण जन-जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। कथ्य या विषय-चयन की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प-चेतना की दृष्टि से भी रेणु की गणना प्रेमचन्द स्कूल के अन्तर्गत हो सकती है। अपनी मिश्रित शिल्प की कहानियों में भी रेणु ने कथा की सहजता और वर्णन

१. देखिए, मदनमोहन उपेन्द्र का लेख, 'परती के परिकथाकार रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित, पृ० ८१)

की वस्तुपरकता को अक्षुण्ण रखा है। और भाषा के मामले में रेणु ही प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में कदाचित उनके सर्वाधिक निकट हैं। प्रेमचन्द की तरह ही रेणु ने भी बोलचाल की चलती-फिरती भाषा की सम्भावनओं को पहचानकर अपनी कहानियों में उसी का प्रयोग किया है। परन्तु वर्ण्य विषय, शिल्प या भाषा से अधिक जो बातें रेणु को प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ती हैं, वे हैं उनके लेखन की सोद्देश्यता, व्यक्ति को परिवेश के संदर्भ में समझने का उनका प्रयत्न, उनकी रचनाओं की समाज-सापेक्षता और उनकी यथार्थ दृष्टि। प्रेमचन्द की कृतियों की भांति ही रेणु की कहानियों में दीन-दुखी और शोषित जनों के लिए गहरी करुणा मिलती है। प्रेमचन्द की तरह रेणु भी अपने समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध थे और उनमें परिवर्तन चाहते थे। इस परिवर्तन के लिए यदि वे कहीं-कहीं अपने पूर्वाग्रहों और व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों के कारण सही दिशा-निर्देश नहीं दे सके हैं, फिर भी रेणु की निष्ठा और परिवर्तन के लिए उनकी आतुरता में संदेह नहीं किया जा सकता है।

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार रेणु की रचनाओं में ग्रामीण समाज के वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विभेद और अत्याचारों का चित्रण उन्हें प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ता है। परन्तु एक सही दृष्टि का अभाव उन्हें इस परम्परा से दूर ले जाता है।[1] प्रेमचन्द की परम्परा के संदर्भ में रेणु की भूमिका को डॉ० शिवकुमार मिश्र ने डॉ० रामविलास शर्मा की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा है। उन्होंने प्रेमचन्द, निराला और मुक्तिबोध की मृत्यु की तरह ही रेणु की मौत को भी एक सामाजिक हादसा माना है।[2] उनके अनुसार रेणु ने अपनी कहानियों में खेत-खलिहानों वाले असली भारत की व्यथा-कथा कही है। "उसी की आशाओं, आकांक्षाओं, उसी के स्वप्नों और संकल्पों को, बड़ी गहरी संवेदना के साथ, बड़ी आत्मीय शैली में, उसके एक-एक रेशे से अपनी निकट की पहचान तथा एक-दम अंतरंग रिश्ते को सूचित करते हुए उजागर किया है। वस्तुतः यही वह बिन्दु है जहां रेणु अपनी तमाम विशिष्टताओं के बावजूद प्रेमचन्द और उनकी परम्परा से जुड़ते हैं, भारत और उसकी मिट्टी से जुड़ते हैं, और यही वह संदर्भ है जहां उनकी मौत प्रेमचन्द की मौत की तरह, किसी अजनबी रचनाकार की मामूली मौत न रहकर, एक बहुत बड़ा सामाजिक हादसा बन जाती है।"[3]

१. 'प्रेमचन्द की परम्परा और आंचलिकता' ('आस्था और सौंदर्य' में संकलित, पृ० ११६-२०)

२. 'प्रेमचन्द की परम्परा और फणीश्वरनाथ रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित', पृ० ४७

३. वही, पृ० ४६

डॉ० शिवकुमार मिश्र मानते हैं कि प्रेमचन्द और रेणु की रचना-दृष्टि में अवश्य कुछ अन्तर है। दोनों का लेखन तद्रूप न होकर समरूप है। इस अन्तर को वे इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—" प्रेमचन्द के यहां ब्यौरे नहीं हैं, रेणु के यहां ब्यौरे हैं। प्रेमचन्द में ग्रामीण जीवन के चटख रंग नहीं हैं, जबकि रेणु ने चटख रंगों में ग्रामीण जीवन का मिश्रण किया है। प्रेमचन्द की दृष्टि मूलतः एक रचनाकार की दृष्टि रही है, जबकि रेणु के रचनाकार के साथ-साथ उनका कलाकार भी हमेशा प्रबुद्ध रहा है। दोनों के शिल्प में ही नहीं, सोच में भी कुछ अन्तर है, किन्तु ये सारे अन्तर उस शक्तिशाली हक़ीक़त को नहीं दबा पाते कि रेणु भी अपने कृतित्व में मूलतः भारत के गांवों और उनकी नीरस बेजान और विकृत होती हुई जिन्दगी के प्रति 'कन्सर्न्ड' रहे हैं और प्रेमचन्द भी। इस 'कन्सर्न्ड' की तीव्रता और गहराई दोनों में समान है।"[1]

रेणु को प्रेमचन्द की परम्परा से बाहर मानने वालों, या उनके लेखन की सोद्देश्यता और प्रतिबद्धता पर शंका करने वालों में से कुछ लोग इसलिए नाराज़ हैं कि रेणु ने समाजवादी क्रान्तिकारी विचारधारा का विरोध न सही, एक विशिष्ट राजनीतिक दल की नीतियों और दांव-पेचों का विरोध तो किया है। जिस बिहार आन्दोलन को इस पार्टी ने प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी शक्तियों का षड्यन्त्र करार दिया था, रेणु उसी में शामिल हो गये थे। वस्तुतः किसी राजनीतिक दल की अल्पकालिक स्ट्रैटजी की कसौटी पर रेणु की प्रतिबद्धता को कसना और उसे खोटा करार देना, रेणु के प्रति ही नहीं, समस्त जनवादी यथार्थवादी साहित्य के प्रति अन्याय होगा। इस प्रकार की अभिवृत्ति से रेणु बहुत क्षुब्ध थे और उन्होंने अपना आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त किया था—"मैं प्रतिबद्धता का केवल एक ही अर्थ समझता हूं — आदमी के प्रति प्रतिबद्धता, बाकी सब बकवास है। × × × प्रतिबद्ध लोग कहते हैं, बढ़े हुए पांव, उठे हुए हाथ ही काफी नहीं हैं। वे दिखाना चाहते हैं कि उठे हुए हाथ में झंडा किस रंग का है···यह कैसी प्रतिबद्धता है?"[2]

रेणु और राजनीति : अन्तर्विरोध

फणीश्वरनाथ रेणु के लिए राजनीति 'दाल भात की तरह' रही है। एक लेखक के रूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व वे राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे। वे

१. 'प्रेमचन्द की परम्परा और फणीश्वरनाथ रेणु' (रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि में संकलित, पृ० ५०-५१)

२. देखिए विश्वनाथ का लेख 'सबार ऊपरे मानुष सत्य ताहर ऊपरे किछु नाई' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित, पृ० २६)

बिहार सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य और सरगर्म कार्यकर्त्ता रहे। अपने राज्य और देश से बाहर उन्होंने नेपाल की राजनीति में भी दिलचस्पी ली थी। सन् १९५० में नेपाली कांग्रेस द्वारा चलाये गये राणा शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह में रेणु भी शामिल हो गये थे और मुक्ति सेना की फौजी वर्दी पहनकर और बंदूक लेकर मोर्चे पर कूद पड़े थे और उन्होंने 'आजाद नेपाल रेडियो' के संचालन का भार अपने ऊपर लिया था। तात्पर्य यह कि राजनीति उनके अनुभव-क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। अतः स्वाभाविक है कि उन्होंने राजनीतिक समस्याओं और मुद्दों तथा राजनीति से सम्बद्ध पात्रों को लेकर कहानियां लिखी हैं। रेणु की इन राजनीतिक कहानियों में कौन-सी 'राजनीति' मिलती है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

इसे मोहभंग कहिए या अन्तर्विरोध, राजनीति में सक्रिय भाग लेने वाले रेणु की राजनीतिक कहानियां यथार्थ में 'राजनीति-विरोधी' कहानियां हैं। इन कहानियों में रेणु ने यह दर्शाया है कि राजनीति धूर्तों और बदमाशों का पेशा है। सभी राजनीतिक दलों में दुष्ट, धोखेबाज और निहित स्वार्थों के लोग इकट्ठे हो गये हैं। उन्हें जनता के दुःख-दर्द के साथ कोई दिलचस्पी नहीं है और न इसका कोई समाधान उनके पास है। ये राजनीतिक पार्टियाँ सिद्धांतों और आदर्शों की दुहाई देकर परस्पर लड़ती हैं परन्तु उनका असली उद्देश्य अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार होता है। 'पुरानी कहानी : नया पाठ' कहानी में राजनीतिक दल और राजनेता बाढ़ की विभीषिका में भी अपना दलगत और व्यक्तिगत स्वार्थ साधते हैं और फलस्वरूप इस दैवी प्रकोप की भीषणता को और बढ़ाते हैं। घोर विपत्ति में भी ये लोग सभी मानव-मूल्यों की धज्जियां उड़ाते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि को ही सर्वोपरि मानते हैं। बाढ़ग्रस्त क्षेत्र के विधानसभा चुनाव में पराजित उम्मीदवार इस विनाशकारी बाढ़ को 'दैवी प्रकोप' नहीं, 'दैवी वरदान' मानते हैं—"इस क्षेत्र के पराजित उम्मीदवार, पुराने जनसेवकजी का सपना सच हुआ। कोसका मैया ने उन्हें फिर जनसेवा का 'औसर' दिया है।...जै हो, जै हो! इस बार भगवान ने चाहा तो वे विरोधी को पछाड़कर दम लेंगे।"[1] इस राजनेता से संकेत पाकर गाड़ीवान टोले के उनके कर्मठ कार्यकर्ता 'गुप्त कारवाई' करते हैं। फलस्वरूप बरदाहा बाँध टूट जाने के कारण और डेढ़ सौ गाँव डूब जाते हैं।[2] अपने स्वार्थों के लिए विरोधी पार्टियां ही आपस में नहीं लड़ती हैं बल्कि एक पार्टी के विरोधी गुट भी एक-दूसरे को नीचा दिखाना चाहते हैं—"सभी राजनीतिक पार्टी के नेताओं ने अपने प्रतिनिधि

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० ७४
२. वही, पृ० ७६

का नाम दिया है—विजिलेंस कमेटी की सदस्यता के लिए। प्रायः सभी पार्टी में दो गुट हैं—ऑफिसियल ग्रुप, डिसिडेण्ट...। हर कैम्प में एक दबा हुआ असंतोष सुलग रहा है।"[1]

'आत्म-साक्षी' कहानी भी इसी प्रकार दलगत राजनीति के प्रति विरुचि पैदा करती है। एक 'क्रान्तिकारी पार्टी' विभाजित होकर दो टुकड़ों में बंट गयी है। दोनों विरोधी गुटों के नेता कामरेड बलराम और कामरेड चन्द्रिका गांव के पार्टी ऑफिस पर अधिकार जमाना चाहते हैं। दोनों एक-दूसरे के लिए गद्दार, डिक्टेटरशाह, पेटी बुर्जुआ के बच्चे आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं। कौन सच्चा है और कौन झूठा, इसका निर्णय गांव का सीधा-सादा कार्यकर्ता गनपत नहीं कर पाता है। वह सच्चाई जानना चाहता है पर उसे बताया जाता है कि यह 'हाई लेवल' और 'सिद्धान्त की लड़ाई' की बात वह नहीं समझ सकता।[2] जो कामरेड कल तक एक-दूसरे की प्रशंसा के पुल बांधा करते थे, आज एक-दूसरे को गाली-गलौज दे रहे हैं, एक-दूसरे पर कीचड़-गोबर उछाल रहे हैं—यह एहसास गनपत को भीतर से तोड़ देता है और उसके मन में अचानक 'निरगुन' की एक कड़ी गूंजने लगती है, "तोरो जन्म अकारथ जाय मूरख।"[3] उसकी आस्था टूट जाती है, उसका मोहभंग हो जाता है—

"गनपत को लगता है कि सूरज में भी दरार पड़ गयी है। दुनिया की हर चीज आज दो भागों में बंटी हुई-सी लगती है। हर आदमी के दो टुकड़े, दो मुखड़े और दरका हुआ दिल।

जिन बातों को आज तक पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों और जंगबाजों की बात समझकर अनसुनी कर देता था, आज वे ही बातें बार-बार याद आती हैं।

गनपत, तुम्हारे लीडर लोग, यानी तुम्हारी पार्टी, जाति और धर्म को अफ़ीम कहती है। मगर तुम्हारे लोग अपने बच्चे-बच्चियों की शादी किसी दूसरी जाति में क्यों नहीं करते? लड़के की शादी में कामरेड रामलगन सरमा ने पचीस हजार रुपये तिलक में गिनवा लिया। तुम्हारे लीडरों के बच्चे दार्जिलिंग और देहरादून में पढ़ते हैं। तुम्हारे सेक्रेटरी की बीवी कांग्रेसी-मिनिस्टर होने के लिए जाति की गुटबंदी करती है। तुम्हारे तूफान जी ने मिल-मालिक से मिलकर मजदूरों की गर्दन पर छुरी..."[4]

१. आदिम रात्रि की महक, पृ० ७८
२. वही, पृ० १५९
३. वही, पृ० १६३
४. वही, पृ० १६७

लगता है कि रेणु ने कम्युनिस्टों को 'नंगा' करने में कुछ ज्यादा ही उत्साह दिखाया है, यद्यपि सतर्कता बरत कर प्रायः उनका सीधे नाम नहीं लिया है। परन्तु उनकी आरंभिक कहानियों में यह सतर्कता भी नहीं मिलती है। 'बीमारों की दुनिया में' कहानी में रेणु वक्त के माध्यम से कम्युनिस्टों के प्रति इन शब्दों में अपना रोष प्रकट करते हैं—"ये कम्युनिस्ट ! १९४२ की क्रान्ति में रोड़े अटकाने वाले क्रान्ति-विरोधी !"[१] इस 'कम्युनिस्ट फोबिया' का एक कारण रेणु की अपनी पार्टी सोशलिस्ट पार्टी की नीति और स्ट्रैटजी भी हो सकती है। मगर उन्होंने कम्युनिस्टों के साथ-साथ दूसरे राजनीतिक दलों को भी कोसा है। और तो और, उन्होंने अपनी सोशलिस्ट पार्टी को भी नहीं बख्शा है।

कहा जा सकता है कि राजनीतिक दलों की असलियत को रेणु ने भीतर से देखा था। सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता होने के कारण ही उन्हें सक्रिय राजनीति से वितृष्णा हो गयी थी। इसीलिए उन्होंने सन् १९५२ में लम्बी बीमारी के बाद राजनीति से संन्यास ले लिया और साहित्य-सृजन में जुट गये। लेकिन यहां पर एक बार फिर रेणु के जीवन और जीवन-दर्शन का अन्तर्विरोध हमारे सामने प्रकट होता है। यदि राजनीति से उनका मोहभंग हुआ था तो बीस वर्षों के बाद वे फिर कैसे सक्रिय राजनीति में लौट आये ? क्यों उन्होंने सन् १९७२ में बिहार विधान सभा के लिए चुनाव लड़ा ? सन् १९७४ में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे बिहार आन्दोलन में किस मोह के कारण शामिल हो गये ? 'मैला आंचल' में 'मिट्टी के मोह' की बात करने वाला कथाकार क्यों अपने देश की मिट्टी छोड़कर विदेशों में राजनीतिक शरण लेने की बात सोचने लगा ?[२]

लगता है कि रेणु का कभी भी किसी भी प्रकार की राजनीति में कोई दृढ़ विश्वास या 'कन्विंशन' नहीं रहा है। राजनीति में सक्रिय भाग लेने के बावजूद राजनीति के प्रति उनका कुछ-कुछ रोमानी दृष्टिकोण रहा है। वे निःसंदेह देश की वर्तमान अवस्था देखकर क्षुब्ध और इसके परिवर्तन के लिए आतुर थे। परन्तु यह आतुरता एक भावुक और संवेदनशील व्यक्ति की आतुरता थी। ऐसे लोग जल्दी ही क्रान्तिकारी पार्टियों की ओर आकृष्ट होते हैं और जल्दी ही उनका मोहभंग हो जाता है। रेणु की राजनीतिक विचारधारा के विषय में एक और बात ध्यान देने योग्य है। रेणु सक्रिय राजनीति में किसी राजनीतिक आस्था की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण जुड़ गये थे। इस सम्बन्ध में नेपाली नेता श्री विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला ने एक दिलचस्प घटना बयान की है। सन्

१. 'विश्वमित्र', कलकत्ता, दिसम्बर, १९४६, पृ० २८

२. देखिए डॉ० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव का लेख, 'रेणु और बिहार आन्दोलन' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित), पृ० १०२

१९३७ में वे अपनी पत्नी के साथ अपने घर विराटनगर (नेपाल) जा रहे थे। एक स्टेशन से गाड़ी खुलने पर उन्होंने देखा कि एक किशोर डिब्बे के बाहर डण्डी पकड़कर पांवदान पर खड़ा जोरदार वर्षा में भीग रहा है। उन्होंने उस पर तरस खाकर उसे डिब्बे के भीतर आने दिया। पारस्परिक परिचय के बाद वह उन लोगों से इतना घुल-मिल गया कि उनके साथ ही विराटनगर चला आया। वहां वह उनके घर पर ही रहने लगा, और जब विश्वेश्वरप्रसाद के पिता स्व० कृष्ण-प्रसाद कोइराला ने विराटनगर में नेपाल तराई का पहला स्कूल खोला तो उस किशोर ने दाखिल होकर वहीं अपनी आरम्भिक शिक्षा पायी। यह किशोर कोई और नहीं, फणीश्वरनाथ रेणु ही थे।[१] कोइराला बंधुओं के साथ ही रेणु उच्च शिक्षा हेतु काशी विश्वविद्यालय में दाखिल हुए और यहीं आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ० राममनोहर लोहिया आदि नेताओं के सम्पर्क में आकर राजनीति में शामिल हो गये और १९४२ के आन्दोलन में जेल गये। १९४२ के आन्दोलन के नेताओं—विशेषकर श्री जयप्रकाश नारायण के साथ रेणु का संबंध वैचारिक या सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा भावात्मक अधिक था।

रेणु एक आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा की निष्ठा और एक संवेदनशील व्यक्ति की आतुरता को लेकर राजनीति में शामिल हो गये थे। उनकी आतुरता देश की सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के लिए कोई 'तुरन्त उपचार' या 'चमत्कार' चाहती थी। सक्रिय राजनीति से उनकी यह आकांक्षा पूरी नहीं हुई तो वे उससे विमुख हो गये। कुछ समय के बाद उनकी आतुरता फिर उन्हें राजनीतिक निष्क्रियता से सक्रिय राजनीति में वापस ले आयी। हर नया राजनीतिक आन्दोलन उनमें नयी आशा का संचार करता था पर शीघ्र ही उनका मोह टूट जाता। विश्वनाथ के शब्दों में "कुछ समय के लिए तो उन्होंने सोचा था कि शायद नक्सलपंथ ही ठीक है। पर यह भ्रम शीघ्र ही टूट गया।"[२] यथास्थिति में किसी चामत्कारिक परिवर्तन के लिए रेणु की आतुरता अथवा 'चमत्कारों' में उनके विश्वास का संकेत उस मनोरंजक प्रसंग से भी मिलता है जिसका जिक्र सुरेश शर्मा ने अपने संस्मरण 'रेणु : जीवन-स्मृतियों के कुछ अधूरे शिलालेख' में किया है। सुरेश शर्मा ने लिखा है—"एक दिन कॉफी हाउस में सोशलिस्ट रेणु को मैंने सांई बाबा की अंगूठी पहने हुए देखा। मैंने सप्रश्न जब उनकी उंगलियों पर

१. विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला, 'रेणु और मैं', फणीश्वरनाथ रेणु की मरणोपरान्त प्रकाशित पुस्तक 'नेपाली क्रान्ति-कथा' (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७) की भूमिका, पृ० ५-६

२. विश्वनाथ का लेख 'सवार ऊपरे मानुष सत्य ताहर ऊपरे किछुनाई' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित, पृ० ३१)

निगाह डाली तो व्यंग्य और क्षोभ से भरकर उन्होंने मजाक में कहा कि आपातकाल में शायद उसे धारण करने से जनता बदल के लिए उठ खड़ी हो।"[१]

मार्च १९७४ में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार आन्दोलन का आरम्भ हुआ। रेणु ने इसमें सरगर्मी से भाग लिया। बीमार होने के बावजूद गर्मी की दोपहरी में मुंह पर पट्टी बांधकर ८ अप्रैल के मौन जुलूस में शामिल हुए, सामूहिक अनशन पर बैठे, पर्चे, पोस्टर और बैनर लिखे और लिखवाए, नुक्कड़ कवि गोष्ठियों का आयोजन किया, गिरफ्तार हुए। २५ जून १९७५ को आपात-काल की घोषणा हुई। रेणु भारत के उन इने-गिने बुद्धिजीवियों में से एक थे जिन्होंने इसका निर्भीकता से विरोध किया। पद्मश्री की उपाधि और बिहार सरकार से मिलने वाली पेंशन वापस की, भूमिगत रहे और 'रांड का बेटा सांड' नाम से एक लघु उपन्यास लिखना शुरू किया, जिसे उसमें निहित स्पष्ट संकेत के कारण किसी प्रकाशक या मुद्रक को छापने की हिम्मत नहीं हुई। उनकी आतुरता और निष्ठा को यथास्थिति के घोर अन्धकार में जयप्रकाश बाबू की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' में एक बार फिर रोशनी की किरण दिखाई दी। अस्पताल से भागकर मार्च १९७७ के मध्यावधि चुनावों में इमर्जेंसी को लादने वाली सरकार को पराजित करने की कोशिशों में अपना योगदान दिया। २२ मार्च को चुनाव के परिणाम स्पष्ट हो गये। सत्ता पर तीस वर्षों तक अधिकार जमाने और इमर्जेंसी लागू करने वाली कांग्रेसी सरकार का खात्मा हुआ। २४ मार्च को रेणु ने इस संतोष और सुख के साथ अपना ऑपरेशन करवाया कि आखिरकार यथास्थिति खत्म हो गयी। ऑपरेशन के बाद उनकी चेतना कभी नहीं लौटी और ११ अप्रैल १९७७ को अचेतावस्था में ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसे उनका दुर्भाग्य कहें या सौभाग्य, वे नयी सरकार की कारगुजारियां देखने के लिए जीवित न रहे। कहा नहीं जा सकता कि सरकार बदलने के बावजूद कायम यथास्थिति और जयप्रकाश बाबू की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की त्रासद परिणति देखकर उनकी क्या दशा होती?

ऊपर रेणु की चमत्कारों में आस्था के प्रसंग में सांई बाबा की अंगूठी का जिक्र किया गया है। वास्तव में उनकी 'आस्था' का एक सूत्र उन्हें सांई लोगों, साधुओं और तन्त्र-साधकों से भी जोड़ता था। तन्त्रविद्या में रेणु की रुचि के विषय में कमलेश्वर का साक्ष्य है—"वह आस्तिक है और शक्ति का उपासक। तन्त्रविद्या और तन्त्रसाधना में उसकी रुचि है—मौका तो मुझे याद नहीं, पर एक दिन पता लगा था कि रेणु तन्त्रसाधना में लीन है, और सिद्धि के लिए कर्मकाण्ड का पूरा

१. सुरेश शर्मा,' रेणु : जीवन्त-स्मृतियों के कुछ अधूरे शिलालेख' ('रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' में संकलित, पृ० १७०)

आयोजन कर कुशासन पर आसीन है और अर्धरात्रि को कुक्कर की बलि देगा। तीन दिन तक रेणु से मुलाकात नहीं हुई थी, और मैं उसके बारे में तरह-तरह की बातें सोचने लगा था।"[२] स्वयं रेणु ने इस संबंध में मधुकर सिंह के प्रश्न का उत्तर देते हुए तन्त्रसाधना को अपना 'निजी' और 'व्यक्तिगत' मामला बताया है।[३] वास्तव में रेणु के व्यक्तित्व में कई अन्तर्विरोध थे जो उनके कृतित्व में भी झलकते हैं। कभी वे प्रगतिशील नजर आते हैं, तो कभी पुरातनपंथी। कभी एक राजनीतिक प्रचारक और कभी राजनीति-विरोधी व्यक्ति। कभी बिहारी तो कभी बंगाली। कभी भारतीय तो कभी नेपाली। कभी गांव का एक उज्जड़ किसान और कभी शहर का सुसंस्कृत और नफासतपसंद बुद्धिजीवी। कभी सबके साथ रहकर सामाजिक जीवन जीने को इच्छुक आदमी और कभी घनिष्ठ मित्रों के बीच भी अपने को अकेला अनुभव करने वाला एक विशिष्ट व्यक्ति।

रेणु की नफासतपसंदी, या व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य को बनाये रखने के प्रति उनकी चेष्टा को लेकर काफी कुछ कहा गया है। कुछ लोगों ने रेणु के इस व्यक्ति-वैशिष्ट्य पर अनावश्यक बल देकर यह सुझाने का प्रयत्न किया है कि उनकी रचनाओं में दोनों दरिद्रों के लिए चिन्ता पाखंड मात्र है। डॉ० कुमार विमल का मत है कि "वह (रेणु) पटना के कॉफी हाउस के शहरी गोल में प्रति-दिन घंटों बैठने के अभ्यासी होकर भी ग्रामीण जीवन के ताजा यथार्थ पर साधिकार बातचीत कर लेते थे और स्वयं सुस्वादु भोजन, सुपाच्य मिष्टान्न, अच्छे पेय और सुगंध-शृंगार जैसी कीमती अगरबत्ती के प्रेमी होकर भी उस अनपढ़-अर्द्धनग्न ग्रामीण जन की पीड़ा की बेतहाशा बातें कर पाते थे, जिसके पेट की अंतड़ियां अकसर भूख से ऐंठती रहती हैं।"[३] दूसरी ओर निर्मल वर्मा रेणु की इस नफासत और विशिष्टता का सीधा सम्बन्ध उनके संस्कारों से मानते हैं—"कुछ लोगों में एक राजसी, 'अरिस्टोक्रेटिक' गरिमा होती है, जिसका ऊंचे या नीचे वर्ग से सम्बन्ध नहीं होता—वह सीधे संस्कारों से सम्बन्ध रखती है। रेणु जी में यह अभिजात भाव एक 'प्रेस' की तरह व्याप्त रहता था।"[४] निर्मल वर्मा के

१. कमलेश्वर, 'मेरा हमदम, मेरा दोस्त : फणीश्वरनाथ रेणु (नयी कहानियां, मार्च १९६४, पृ० ६८-६९; अथवा 'फणीश्वरनाथ रेणु : श्रेष्ठ कहानियां,' 'नये कहानीकार' पुस्तकमाला, सम्पादक राजेन्द्र यादव, राजपाल एण्ड संज, दिल्ली, दूसरा संस्करण, पृ० १४)
२. सारिका, मार्च १९७१, पृ० ८७
३. डॉ० कुमार विमल, 'रेणु की याद में', 'नया प्रतीक'—मार्च' ७८, पृ० ४
४. निर्मल वर्मा, 'समग्र मानवीय दृष्टि' (रेणु की मरणोपरान्त प्रकाशित 'ऋणजल-धनजल' की भूमिका, पृ० १४)

अनुसार रेणु ने किसी दल विशेष, या किसी विशिष्ट विचारधारा के चश्मे से संसार को नहीं देखा। उनके पास एक 'समग्र मानवीय दृष्टि' थी। वे एक सच्चे जनवादी लेखक होकर भी "हाय-हाय करते, छाती पीटते प्रगतिशील लोगों के आडम्बर से बहुत दूर थे, जो मनुष्यों की यातना को उसके समूचे जीवन से अलग करके अपने सिद्धान्तों की लेबोरेटरी में एक रसायन की तरह इस्तेमाल करते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना थी कि मार्क्सवादी आलोचक, जिन्हें सबसे पहले रेणु जी के महत्त्व को पहचानना था, अपने थोथे नारों में इतना आत्मलिप्त हो गये कि जनवादिता की दुहाई देते हुए सीधे अपनी नाक के नीचे जीवन्त जनवादी लेखक की अवहेलना करते रहे।"[१]

कतिपय पूर्वाग्रहों एवं अन्तर्विरोधों के बावजूद फणीश्वरनाथ रेणु का कथा साहित्य जनवादी और यथार्थवादी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। हिन्दी में जब स्वतन्त्रता के बाद की पीढ़ी के अनेक कहानीकार और साठोत्तरी पीढ़ी के अधिकांश कहानीकार महानगर के संत्रास, जीवन की निरर्थकता, आदमी के अकेलेपन और अनास्था की कहानियां लिख रहे थे, रेणु ने सामान्य जन के सुख-दुःख की, उसकी कर्मठता और आस्था की कहानियां लिखकर एक प्रकार से पथ-भ्रष्ट हिन्दी कहानी को सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। अपनी समग्र मानवीय दृष्टि से रेणु ने जीवन और जगत् में कुण्ठा, संत्रास, अर्थहीनता न देखकर ममता, करुणा, निष्ठा, आस्था और सुन्दरता देखी। रेणु की कहानियां पढ़कर लगता है कि यह जीवन और जीने योग्य है। यह संसार त्याज्य नहीं, ग्राह्य है। इस दृष्टि से रेणु और वैष्णव भक्तों में कुछ-कुछ समानता दिखाई देती है। वैष्णव भक्ति का धार्मिक और दार्शनिक स्वरूप जो भी हो, उसका एक सामाजिक पक्ष भी था। वैष्णव भक्तों ने मनुष्य के रूप में ही ईश्वर की कल्पना की और उसके शील, सौंदर्य, शक्ति, माधुर्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा भी मनुष्य में ही की। उन्होंने इस संसार को 'माया' या 'मिथ्या' न मानकर 'कर्मक्षेत्र' और प्रभु की 'लीलाभूमि' माना। यह आकस्मिक नहीं कि रेणु ने 'नित्य लीला' कहानी में कृष्ण-कथा का ही अपनी विशिष्ट शैली में पुनराख्यान किया है और कृष्ण की एक अनन्य लीला की मौलिक उद्भावना की है। कहानी पाठक के मन पर एक स्वस्थ और आशाजनक प्रभाव छोड़ती है कि संसार सुन्दर है, जीने और प्यार करने योग्य है। योगमाया के रूप में ही खोये हुए कृष्ण को पुनः पाकर ब्रजभूमि आनन्दविह्वल हो जाती है—"आनन्द से सारा ब्रजमंडल जगमगाने लगा। किसन को घेरकर सभी नाचने लगे···नन्द महर भी ! जशोदा भी ! और सलोना कभी घेरे के बीच

१. निर्मल वर्मा, 'समग्र मानवीय दृष्टि' (रेणु की मरणोपरान्त प्रकाशित 'ऋण-जल-धनजल' की भूमिका) पृ० १७

में किसन के पास जाता है दौड़कर, फिर बाहर निकल वृत्त के चारों ओर दौड़ता है—टिनिंग-टिनिंग···उं-यां-यां !"[१]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रभाव, यह ध्वनि, यह संदेश, इसी एक कहानी में नहीं, फणीश्वरनाथ रेणु के समस्त कथा-साहित्य में, किसी न किसी रूप में व्याप्त है।

•

१. ठुमरी, पृ० ७७

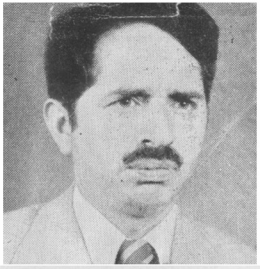

हरिकृष्ण कौल

जन्म : २२ जुलाई, १९३४—श्रीनगर, कश्मीर।

शिक्षा : एम० ए०, एम० फिल्०।

व्यवसाय : अध्यापन, लेखक।

रचनाएं : इस हम्माम में, टोकरी भर धूप, अरथी, गद्य गरिमा, छाया, पतअ लारान परबथ (कश्मीरी), हालस छु रोतुल (कश्मीरी), नाटक करिव बन्द (कश्मीरी)।

सम्पर्क : ६६/१, काठलेश्वर, जैन्दार मुहल्ला, श्रीनगर-१९०००१